उन्मीलन

मानसिक हिन्द स्वराज का
वैतालिक दार्शनिक षाणमासिक

वर्ष 18, अंक 1
जनवरी, 2004

संपादक
यशदेव शल्य - मुकुन्द लाठ

प्रबन्ध-संपादक
अम्बिकादत्त शर्मा

वर्ष 18 अंक 1 जनवरी, 2004

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

सम्पादक
यशदेव शल्य : मुकुन्द लाठ

प्रबन्ध-सम्पादक
अम्बिकादत्त शर्मा

दर्शन प्रतिष्ठान
जयपुर

परामर्शदाता

1. **गोविन्दचन्द्र पांडे,** द्वारा श्री वी. के. पाण्डे, ए-90 अलकापुरी, पोस्ट आफिस भेल, भोपाल-462024
2. **दयाकृष्ण,** चौथी मंज़िल, एच.डी.एफ.सी. एन्क्लेव, अशोक मार्ग, सी-स्कीम, जयपुर-302001
3. **रमेशचन्द्र शाह,** एम. 4, निराला नगर, भदभदा रोड, भोपाल-462003
4. **अशोक वाजपेयी,** सी-60, अनुपम को-आपरेटिव ग्रुप हाउसिंग सोसायटी, वसुन्धरा एन्क्लेव, दिल्ली-96

संपादक

1. **यशदेव शल्य,** पी-51, मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर-302015, दूरभाष 2707493
2. **मुकुन्द लाठ,** ए 37/38, विश्वामित्र मार्ग, श्याम नगर, अजमेर रोड, जयपुर-302006 दूरभाष 2294737 / 2293725

प्रबन्ध-संपादक

1. **अम्बिकादत्त शर्मा,** बी.डी.एस. 2, गौर नगर, विश्वविद्यालय परिसर, सागर-470003 दूरभाष 07582-220587

वार्षिक शुल्क
व्यक्तिगत : रु. 50/-
संस्थाएं : रु 75/-

आजीवन शुल्क
व्यक्तिगत : रु. 500/-
संस्थाएं : रु 5000/-

यशदेव शल्य एवं मुकुन्द लाठ द्वारा दर्शन प्रतिष्ठान, पी-51 मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर-302015 के लिए विशाल कम्प्यूटर्स, जयपुर से लेजर कम्पोजिंग तथा श्रीजी प्रिण्टर्स, नाटी इमली, वाराणसी द्वारा मुद्रित।

सम्पादकीय

इस अंक से उन्मीलन के सम्पादन का दायित्व मुख्यतः डॉ. अंबिकादत्त शर्मा को सौंपा जा रहा है। मैं और मुकुंद जी उनके सहायक के रूप में रहेंगे। इस प्रकार उन्मीलन के लिए लेख भविष्य में डॉ. शर्मा को भी भिजवाये जा सकते हैं, मुझे या मुकुंद जी को भी।

उन्मीलन का आरंभ हमने हिन्दी में एक ऐसी अत्युच्च स्तरीय दार्शनिक पत्रिका प्रकाशित करने के संकल्प के साथ किया था जिसमें मुख्यतः मौलिक लेख रहेंगे, अथवा ऐसे व्याख्यात्मक लेख जो अतीत भारतीय दार्शनिक दृष्टि को और गहराई तथा व्यापकता दें। इस दृष्टि से हमारे देश में प्रकाशित हो रही सभी दार्शनिक, और दूसरे शास्त्रों की भी, पत्रिकाएं काफी दीन हैं। खेद है कि इसमें हमें विशेष सफलता नहीं मिली। प्रस्तुत अंक तो इस दृष्टि से कुछ विशेष ही दुर्बल कहा जा सकता है। हमारा विश्वास है कि भारत में मौलिक चिन्तन का पुनरुज्जीवन केवल भारतीय भाषाओं को अपनाने पर ही हो सकता है, यद्यपि केवल ऐसा करने पर स्वतः ही नहीं हो सकता। लेखकों से अनुरोध है कि वे उन्मीलन के लिए हमारी इस अपेक्षा को ध्यान में रखते हुए ही लेख भिजवायें। प्राचीन भारतीय दर्शन विषयक लेख लिखने वालों से एक और अनुरोध है कि वे अपने विवेच्य दार्शनिकों की भाषा से मुक्त होकर अपनी भाषा में लिखें, उनकी भाषा को मात्र क्रिया-पद बदल कर ही नहीं रख दें। ऐसा तभी हो सकता है यदि वे उनके विचार को उनकी विचार-प्रक्रिया और विचार-सन्दर्भ से मुक्त कर अपनी विचार-प्रक्रिया और अपने विचार-सन्दर्भ में समो सकें।

यशदेव शल्य

लाठ सर्वोदय ग्रंथमाला के अन्तर्गत
दर्शन प्रतिष्ठान द्वारा प्रकाशित ग्रंथ

1.	मूल्यतत्त्व-मीमांसा (शंकर पुरस्कार तथा मंगलाप्रसाद पुरस्कार से सम्मानित)	-	यशदेव शल्य	200.00
2.	चिद्विमर्श	-	यशदेव शल्य	175.00
3.	तत्त्व-चिन्तन	-	यशदेव शल्य	200.00
4.	काव्य-विमर्श	-	यशदेव शल्य	250.00
5.	मुख्य भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन-धाराएं	-	यशदेव शल्य भगवती	150.00
6.	धर्म-संकट	-	मुकुंद लाठ	200.00

अनुक्रमणिका

	संपादकीय		
1.	धर्म और नीति : मानव धर्म के सन्दर्भ में उपेय विचार-4	मुकुन्द लाठ	1
2.	साहित्य और समाज	यशदेव शल्य	29
3.	बौद्ध दर्शन में सारूप्य की अवधारणा	अंबिकादत्त शर्मा	35
4.	नव्यन्याय में उपमान प्रमाण	बदरीनाथ शुक्ल	57
5.	काश्मीर शैव दर्शन पर आचार्य गोविन्दचन्द्र पांडे के विचार	नवजीवन रस्तोगी	69
6.	शल्य जी का सत्य-शीर्षक लेख :	मुकुंद लाठ राजेन्द्रस्वरूप भटनागर	91
7.	पुस्तक समीक्षा		99
	संवित्प्रकाशवाद	सच्चिदानंद मिश्र	

धर्म और नीति
मानव धर्म के संबंध में उपेय विचार-4
(नृत्त का दृष्टान्त)

मुकुन्द लाठ

अपने विचार के संदर्भ में नृत्त का दृष्टांत लेने की बात कर आया हूं। हम स्वातन्त्र्य की ओर बढ़ते हैं तो उस 'हम' से - उस स्व से - ही ऊपर उठने को बढ़ते हैं जिसके कुछ पाने न पाने को हम 'फल' या 'परिणाम' जैसे शब्दों से आँकते हैं। नृत्त का व्यापार स्वभाव से ही अपने बाहर किसी फल या परिणाम की ओर नहीं बढ़ता, वह नर्तक के स्व को भी नकारता ही है। व्यापार स्वप्रतिष्ठ हो जाना चाहता है। वहां फिर उपाय, उपेय, उपयोक्ता (नर्तक) की बात गौण हो जाती है - व्यापार *तक* पहुँचने की बात होती है। व्यापार *में* इनका अर्थ नहीं रहता। और व्यापार भी नियत-निर्धारित कुछ नहीं होता, जिसे किसी अर्थ में नृत्त-साधना का पहले से जाना हुआ 'फल' या 'परिणाम' कहा जा सके। कहने का आशय यह है कि नृत्त-व्यापार किसी पूर्व-प्रदत्त रूप की ओर नहीं बढ़ता जिसे किसी अर्थ में पहले से तैयार या स्थाणु कहा जा सके। हम सीखते हैं तो ऐसा हमें लगता है कि हम पूर्व-प्रदत्त का अनुकरण करते हैं - किसी परंपरा में संस्कृत या दीक्षित होते हैं, उसके सिद्ध रूपों, रूप साधने की सिद्ध प्रणालियों को साधते हैं; उसके सिद्ध मार्गों पर बने पदचिह्नों की लय-ताल-गति को अपने पाँवों में ढालने का रियाज़ करते हैं - चले-आते पदचिह्नों के अनुरूप पाँव रखते हुए चलते रहने का अभ्यास करते हैं। पर नृत्त की *शिक्षा* चाहे किसी परंपरा की मांग करती हो किन्तु उसका मर्म, उसका साध्य, एक आगे बढ़ता अंतरिक्ष होता है - एक सतत उभरता उन्मेष। यह उन्मेष किसी परंपरा से बँधता नहीं, सिद्ध रूपों को पीछे छोड़ता चलता है, और साध्य को सदा निर्बंध ही रखता है। पिछले लेख में हमने देखा कि किसी प्रयोग-परंपरा को अक्षुण्ण रखने के हम जो उपाय साधते हैं - नियम बना कर उसके साध्य-रूपों को परिनिष्ठित करते रहते हैं, वहां, नियम बनाने के व्यापार में ही, हमारी नियम-चेतना नियम से अलग तटस्थ खड़ी रहती है, अपने आप को नियम से स्वतन्त्र पाती है। और अपने किसी सार्थक सृजन में अपने आप को उस रूप-चेतना के अगाध की ओर उन्मुख पाती है जो नियम की परिधि में घिर नहीं सकता। यह रूप-चेतना मानो हमें निमित्त बनाती हुई हम में, हमारे माध्यम से, अपनी अभिव्यक्तियां साधती चलती है - इसे ही हमने 'विधि' का व्यापार कहा है। आशय को यों भी रख सकते हैं : हमारी सार्थक निर्मितियों में आत्मचेतना से ऊर्ध्व एक स्पन्द जागता है जो आत्मचेतना में रूपायण की 'प्रतिभा' जगाता है। इस प्रतिभा में रूप और उसकी अभिव्यक्ति का उपाय-कौशल मानो युगनद्ध होते हैं।

यहां प्रतिभा की बात उठाने का एक पिछले लेख से संबद्ध तात्पर्य भी है। पिछले लेख में मैंने उपाय-उपेय-उपयोक्ता के परस्पर-पिनद्ध होने की बात की थी - बात को यों रखना अपरिचित, अजीब सा लग सकता है। प्रतिभा की धारणा में परिचय का भान स्फुट है। कला में तो हम प्रतिभा की बात करते ही हैं। बात ही नहीं करते अपनी संवेदना से उसका अनुभव भी करते हैं। यह अनुभव उपाय-उपेय-उपयोक्ता के परस्पर-भाव का ही अनुभव होता है। प्रतिभा हमारे लिये कला के अनुभव में ही नहीं, किसी न किसी रूप में हमारे सभी व्यापारों में जागती रहती है, चाहे उपयोक्ता-उपाय-उपेय की पूरी डोर निबिड़ भाव से विरल ही बँधती हो। कला-व्यापार में इस डोर की झलक दूसरे व्यापारों से अधिक सहज है - इसलिये भी नृत्त की बात, मैं समझता हूं, यहां संगत है। पर जैसा मैंने अभी कहा, प्रतिभा का पसारा कला तक सीमित नहीं है : और उसके इस सीमा-बाहर प्रसार को कर्म के क्षेत्र में भी भाँपने के लिये मैं नृत्त का सहारा ले रहा हूं। और भी तात्पर्य है जो आगे की चर्चा में उभरेगा।

प्रतिभा का अनुभव हमें एक व्यापार के रूप में होता है, एक चरिष्णु सृजन-व्यापार के रूप में। पर प्रतिभा व्यापार है तो उसका संबंध भी व्यापार से होता है : चेतना की प्रवृत्तियों से, जिसे मैं एक व्यापक अर्थ में चेतना के कर्म भी कह आया हूं। प्रतिभा का उत्स हमें अपनी जागरूक आत्मचेतना से परे ठहरता जान पड़ता है, पर कहना न होगा कि हम आत्मचेतना में ही उसे जानते-समझते हैं और पकड़ने की ललक रखते हैं। शिक्षा - उसका लेना और उसका देना -ये ऐसे आत्मचेतन व्यापार हैं जो एक नियत रूप की भी मांग करते हैं - और हम शिक्षा को सांचों में, नियत रूपों की परंपरा में ढालते ही चलते है। कला जैसे व्यापार में भी, जहां हम प्रतिभा के व्यापार को अधिक सुलभ मानते हैं - जैसे नृत्त में - वहां भी जब हम व्यापार को *सीखने* की ओर बढ़ते हैं तो परंपरा-सिद्ध रूपों का अनुकरण करते हैं। हमारी चेष्टा का आरंभ महज़ अनुवृत्ति साधने के प्रयास से होता है। पर प्रकट ही अनुवृत्ति यहां व्यापार में *दीक्षित* होने का एक मार्ग है, ताकि हम व्यापार को आत्मसात् कर सकें, उसके बाह्य रूप के माध्यम से उसके अन्तःस्पन्द को अपने भीतर जगा सकें। स्पन्द के उन्मेष को हम कितना, कितनी दूर तक अपने भीतर घर दे पाते हैं, *विधि* की ओर कितना उन्मुख हो पाते हैं - यह बात और है। हम बार बार अनुवृत्तियों में ही उलझ कर रह जाते हैं। सिद्ध को ही साध्य का प्रतिमान या आदर्श भी बनाते रहते हैं।

लगता है जैसे हम प्रतिभा का आदर करते हुए भी उस के नये उन्मेष के अनजान से आतंकित से भी रहते हैं; डरते रहते हैं कि भ्रान्त न हो जायें - जो रास्ते बना चुके हैं उनसे भटक न जायें। तभी नियमों की, रूढ़ियों की किलेबंदी खड़ी करते रहते हैं। उन्मेष को लगाम देते हैं कि कहीं बीहड़ में न चल पड़ें। कलाओं में यह डर एक और भी विभीषिका पालता रहा है। संस्कृति के प्रहरियों में अकसर कला को स्वभाव से ही पथ-भ्रष्ट मानने की प्रवृत्ति रही है। कला में उन्मेष की निर्बंधता को किसी ऊर्ध्वचारी प्रतिभा का नहीं, स्वैरता का - औचित्य-अंध अधःचार का - व्यापार भी माना जाता रहा है। यह माना जाता रहा है कि कला हमें निर्बंध करती है तो हमारे विवेक के आत्मस्थ बाँध भी तोड़ देती है, हम में

कामना के बगटुट आवेग का ज्वार ले आती है। कला हमें किसी विधि जैसी आत्मचेतना से ऊर्ध्वतर भूमि पर नहीं ले जाती, उलटे आत्मचेतना की संयम और मर्यादा की धरती को हमारे पाँव के नीचे से ढहा देती है - हमारी आत्मस्थता के, व्यवहार-नियम के धर्म्य संस्कार, जो हमें पशु-भाव से उबार कर मनुष्य बनाते हैं, उन संस्कारों की नींव ही जैसै हिला देती है। पर कला में यह स्वैर समर्थ प्रेरणा है कि हमारे व्यवहार के अभ्यस्त, सयाने, चौकन्ने स्व की जो मुट्ठी कसी रहती है, उसे ढीली कर दे। और यह अनर्गल शक्ति नाच में दूसरी कलाओं से बढ़ कर ही होती है - नाच मानो बुद्धि के कपाट बंद से कर देता है और मन को ही नहीं, देह-प्राण को भी अपने निर्बंध अविवेक में समो लेता है। लगता है जैसे नाच हमें अपने आपे से आमूलचूल बाहर निकाल कर कामना के विह्वल संवेग के हवाले कर देता है।

पर दूसरी ओर यह भी है कि हमारे शिष्ट कहलाने वाले औचित्य-बोध की नीतियां और रीतियां अगर कला से घबराती हैं तो साथ ही कला के बिना भी हम अपने को अधूरा, रीता-खोखला पाते हैं। नाच को ही लीजिये, उस में अगर स्वैरता का अनात्मचेतन आवेग जड़ कर सकता है तो उसमें वह उत्तुंग द्वार भी हमारी पहुँच में आ समाता है जो हमें विधि के सहज उदात्त स्वाच्छन्द्य का संकेत देता है - ऐसी प्रेरणा की आहट उभारता है जिसका उन्मेष हमारी आत्मस्थ आत्मचेतना को मोह-चपल विस्मृति की ओर नहीं ले जाता बल्कि हमारे आत्म को ही एक नये उन्मीलन के स्पंद और छंद से उजागर करता है।

इतना हम मान ले सकते हैं कि कला उदात्त ही नहीं अनुदात्त भी हो सकती है - और उसमें यह क्षमता है कि वह हमारे स्व आत्म-बंध को शिथिल कर दे, ऐसी जगह ले जाये जहां हमारी पहचान का स्व - हमारा रूढ़-शिष्टता में पला व्यक्तित्व - त्रिशंकु सा हो जाता है। पर त्रिशंकु हो पाने में धरती के रूढ़ सपाट से छूट सकने की जो संभावना है वह हमें बौखला ही नहीं देती, आकाश की भूमा का भी पुलक समोती है। और फिर *हमें* - यहां भारत की परंपरा का बोध रखनेवालों को - तो नृत्त की उदात्त संभावनाओं के प्रति आशंका कम ही होनी चाहिये : यहां देवता भी नाचते हैं। भगवान शिव स्वयं नाचते हैं। कृष्ण महारास करते हैं। चीन में कनफ्यूशियस के चिन्तन में भी नाच का आधार-गत महत्त्व है, और जिस कर्म-क्षेत्र की हम बात करना चाह रहे हैं उसी के प्रसंग में है। कन्फ्यूशियस पर अभी आगे आऊंगा।

पर नृत्त के और महत्त्व की बात करता हूं, जिसे ध्यान में रखते हुए मेंने उसे दृष्टांत बनाना चाहा है। हम पाते हैं कि नृत्त में स्व-से-परे-रहता पर स्व को अपना घर-बनाता प्रतिभा-व्यापार सीधे शरीर तक उतर आता है। और यहां यह सोचिये कि शरीर नृत्त का ही नहीं, कर्म का भी साधन है (उस कर्म का जो साधारण तौर पर कर्म कहलाता है)। कहा ही गया है - 'शरीरम् आद्यं खलु धर्मसाधनम् : धर्म (उचित कर्म करने का) पहला, या मूल, माध्यम शरीर है'। विचार, भाव, ये शरीर की अपेक्षा नहीं रखते, कर्म रखता है। कालिदास की उक्ति को थोड़ा सा बदलते हुए हम नृत्त के बारे में भी कह सकते हैं कि 'शरीरम् आद्यं

खलु नृत्तसाधनम्'। मैं कर्म *शरीरी* के रूप में करता हूं (अन्य शरीरियों के बीच)। नृत्त भी मैं शरीरी के रूप में ही करता हूं। कर्म मैं अन्य शरीरियों के बीच जिस लोक में करता हूं - या यों कहें कि जिस कर्म-क्षेत्र में करता हूं - उसे व्यवहार-लोक कहा जाता है।

इस लेख-शृंखला के आरंभ में ही मैंने यह दिखाने की दिशा ली थी कि कर्म की संभावना का मूल आधार - या आद्य-आधार कह सकते हैं - उसका शरीर से अवियोज्य संबंध है (जैसा नृत्त का भी है)। तभी मैंने कर्म में कर्मेन्द्रियों की भूमिका की बात की थी - और यहां तक कहा था कि हमारे जगत् के ज्ञान की आद्य भूमि - या मूल द्वार कहिये - ये अगर ज्ञानेन्द्रियां हैं तो हमारे कर्म-जगत् का द्वार हमारी कर्मेन्द्रियां हैं। ज्ञानेन्द्रियां बाह्य जगत् को हमारे ज्ञान में या बोध में जगाती हैं - बाहर को भीतर उजागर करने का गवाक्ष कह सकते हैं उन्हें। पर कर्मेन्द्रियां हमें बाहर *ले आती* हैं, और साथ ही कुछ *कर सकने* में - अपने बाह्य-जगत् को *अन्यथा* कर सकने में—समर्थ करती हैं। उनके बिना जगत् हमारे लिये *कर्म-भूमि* नहीं कहला सकता। बाह्य जगत् में कुछ करने की - कर्म की - संभावना यह अपेक्षा रखती है कि हम में स्वरूपेण ही कुछ कर सकने की सामर्थ्य हो - ऐसी निहित शक्ति हो कि हमारी इच्छा, हमारा संकल्प बाहर आ कर बाहर को रूप दे सके, अपने अनुकूल-अनुरूप साध सके। हमारी कर्मेन्द्रियों में यह सहज शक्ति होती है - ज्ञानेन्द्रियों में नहीं। हम चाहते ही हाथ उठा लेते हैं, पाँव बढ़ा देते हैं, आँखों को इधर से उधर ले जाते हैं (आँख अपने आप ऐसा नहीं कर सकती), उँगलियों का लगभग अनगिन तरह से प्रयोग कर लेते हैं। यही कर्मेन्द्रिय-व्यापार है जो हम में स्वभाव-सिद्ध है - जैसे ज्ञानेन्द्रियां भी हम में स्वभाव-सिद्ध हैं।

कर्मेन्द्रियों से हम विशेष कुछ करना चाहते हैं तो इच्छा के साथ कौशल की भी ज़रूरत होती है - हम पाते हैं कि यों करने से यह होता है (जैसे उँगलियों के प्रयोग में) - इच्छा-मात्र से नहीं होता - *उपाय* की मांग होती है। यह उपाय-बोध फिर परिनिष्ठित पद्धति के रूप में देखा-समझा-समझाया-सिखाया जा सकता है (जैसा दूसरे कई कामों के साथ नृत्त में भी होता है)। पद्धति किसी इच्छित परिणाम की ओर उन्मुख होती है, और उस में की गई क्रियाओं की एक क्रम-शृंखला बनती है जो परिणाम से जुड़ती है। इस क्रम-शृंखला में केवल क्रम का ही बोध नहीं होता, यह बोध भी होता है कि क्रम की एक कड़ी से दूसरी *उद्भूत* होती है - क्रम केवल क्रम ही नहीं है, क्रम की कड़ियां एक-दूसरे से किसी अन्तः-संबंध से जुड़ी हैं, यों कि अगली का पहली के साथ एक जन्य-जनक भाव का संश्लेष है।

मैं समझता हूं - और अपनी युक्तियों से कह भी चुका हूं - कि यही हमारे कार्य-कारण बोध का आधार है। कर्मेन्द्रियां न हों, केवल ज्ञानेन्द्रियां ही हों तो कार्य-कारण जैसे संबंध की कल्पना का प्रश्न उठने का कोई अवकाश ही नहीं। ज्ञानेन्द्रियां हमें जो संकेत देती हैं उनसे यह भान तो बन पड़ता है कि हमसे *बाहर* कुछ है जो आभासों के रूप में प्रस्तुत होता है - फिर जब यह भान बुद्धि-निष्ठ रूप लेता है, विकल्पों में ढल जाता है, तो यह कल्पना

भी संभव लगती है कि हम बुद्धि और बुद्धि-गर्भ विकल्पों के माध्यम से इन आभासों को *वस्तुओं* के रूप में बूझते-समझते हैं। या इन्द्रियों से पहले आभास-ग्रहण और फिर विकल्पों के माध्यम से वस्तु-ग्रहण - ऐसे किसी क्रम पर हम प्रश्न उठा सकते हैं और कह सकते हैं कि हमें सीधे वस्तु-ग्रहण होता है, आभास और विकल्प में उसका विश्लेषण, यह पीछे की प्रक्रिया है जो अन्यथा भी की जा सकती है - आखिर पशुओं को भी वस्तु-ग्रहण होता है, जहां विकल्प की बात नहीं की जा सकती। पर जो भी हो, वस्तु-ग्रहण से भी आगे बढ़ कर हम मान सकते हैं कि ज्ञानेन्द्रियों को इन वस्तुओं के बीच संबंध का ग्रहण भी होता है - क्योंकि वस्तु-ग्रहण स्वरूपेण वस्तु के अनैक्य का ग्रहण है, और वस्तुओं के बीच बिना किसी संबंध-ग्रहण के वस्तुओं के अनैक्य-ग्रहण का क्या अर्थ होगा? वस्तु-ग्रहण का ही क्या अर्थ होगा?

पर इस चर्चा को छोड़ें। हमने अभी अभी पशु के वस्तु-बोध की बात की। संबंध की अपेक्षा पशु में भी होती है, और वहां तो प्रकट ही वह बाहर कुछ किये जाते व्यवहार से सीधी जुड़ती है। पशु में ज्ञानेन्द्रिय की बात की जा सकती है, पर किसी कर्मेन्द्रिय-निरपेक्ष ज्ञान की बात बेमानी हीं होगी। मनुष्य के लिये भी प्रश्न उठ सकता है कि माना मनुष्य आत्मचेतन है और अपनी ग्राह्यता और ग्राहकता दोनों के प्रति तटस्थ रह कर दोनों का अलग अवलोकन-आलोचन कर सकता है - तभी उसमें जिज्ञासा, व्याक्रिया और कर्तृत्व से भिन्न ज्ञातृत्व की बात करना संभव है - फिर भी क्या मनुष्य में सचमुच कर्तृत्व-निरपेक्ष ज्ञातृत्व की बात सार्थक है? क्योंकि प्रश्न होगा कि कर्तृत्व-बोध के अभाव में अकेला ज्ञातृत्व-बोध वस्तुओं के बीच संबंध-बोध की ओर उन्मुख ही क्यों हो? - किसी भी संबंध का भान अपेक्षा-बुद्धि में पलता है; संबंध-बोध की अपनी अपेक्षा है कि चेतना स्वयं अपेक्षामय हो, दर्पण की तरह ज्ञान का केवल निःस्तब्ध-निष्क्रिय प्रतिबिंब-पटल न हो। दूसरे शब्दों में, अपेक्षा यह है कि हमारी चेतना ग्राह्य और ग्राहक दोनों का ग्रहण करती हुई, और दोनों से तटस्थ रहती हुई, पीछे प्रत्यङ्मुख हट सके और दोनों को देख सके, जान सके। पर चेतना का यह प्रत्यङ्मुख ग्राहक-स्वरूप भी (या हमारी प्रत्यङ्मुख ग्राह्यता कहिये) *निरपेक्ष*, कोरा-निरा ग्रहणमय नहीं हो सकता, नहीं तो संबंध-निष्ठ ज्ञान की बात नहीं की जा सकती। उस चेतना की अपनी *अपेक्षा* अपेक्षित है। उसका ग्रहण एक ऐसे ग्राह्य-भाव में ही संभव है जिसे केवल ग्रहण होता ही नहीं हो, उलटे जो ग्रहण *करता* भी हो; अपनी निहित अपेक्षायें रखता हुआ ग्रहण करता हो - ज्ञान में जिज्ञासा की अपेक्षा ही इसका एक सीधा, अनायास प्रमाण है। अब, कहना न होगा कि अपेक्षामयता अपने आप में एक कर्तृत्व है; *निष्क्रिय* तो उसे नहीं ही कह सकते हैं। हां, जिज्ञासा जैसे कर्म को हम कर्मेन्द्रिय के कर्म से किसी अलग कोटि में रख ले सकते हैं। चाहे ऐसे कोटीकरण की अपनी समस्याएं हों, फिर भी हम ज्ञातृत्व जैसे आंतर कर्म में और कर्मेन्द्रिय की अपेक्षा रखते साधारण बाह्य कर्म में एक गहरा. सार्थक भेद कर सकते हैं, जिसे चाहें तो तत्त्व क द भी

कह सकते हैं। हमारे इस लम्बे निबन्ध का एक प्रधान प्रश्न ही यह रहा है कि चेतना की कर्ममयी प्रवृत्ति मात्र को उस कोटि से अलग कैसे करें जिसे हम साधारण तौर पर कर्म कहते हैं?

लेकिन ज्ञान के बारे में एक सशक्त पक्ष है जो ज्ञान को किसी भी कर्म से अछूता रखना चाहता है - चाहे वह कर्म एक अपेक्षामय आंतर कर्म ही क्यों न कहा जाये। शंकर ने ऐसा किया ही है; ज्ञान को वस्तुतन्त्र कहा है - अपने आप में निष्क्रिय। शंकर ने ऐसा केवल निर्विषय ब्रह्म-ज्ञान को ही नहीं कहा है, सविषय ज्ञान को भी कहा है - बल्कि शंकर में निर्विषय ब्रह्म-ज्ञान के *वस्तुतन्त्र* होने का अर्थ गहरी समस्या ही जगाता लगता है, क्योंकि ब्रह्म को *वस्तु* कहने का अर्थ ही क्या? पर शंकर विषय-ज्ञान को वस्तु-तन्त्र कहते हुए, वस्तु को न एक अनिवार्य बहुवचन में देखते हैं, न वस्तुओं के बीच संबंध की बात करते हैं - और अपेक्षा तो वहीं आ समाती है। पर चलिये ज्ञान को हम अपेक्षामय भी मान लें तो भी हम ज्ञान की निष्क्रियता की रक्षा के लिये विचार की एक दिशा ले सकते हैं : ज्ञातृत्व को हम आंतर या बाह्य किसी भी प्रकार के कर्तृत्त्व से अछूता रखने की ओर विवेचना के पाँव उठा सकते हैं। शंकर को सामने रखते हुए हम ज्ञान को वस्तु-भिन्न अन्य-सब-कुछ से निरपेक्ष रखने का विचार-प्रयास कर सकते हैं। ज्ञान को हम वस्तुतन्त्र ही नहीं वस्तुओं के बीच संबंध-तन्त्र भी मानें तो भी संबंध का ऐसा रूप सोच सकते हैं जो निरपेक्ष हो।

व्याप्ति को ही लीजिये। व्याप्ति को एक गहरे अर्थ में संबंधों का संबंध कह सकते हैं। और उसी व्यापक-गंभीर अर्थ में व्याप्ति को ज्ञान और ज्ञेय का आधार-निष्ठ संबंध भी कह सकते हैं : ज्ञान चाहे निष्क्रिय हो या सक्रिय, अगर वह अपने ज्ञेय को *जानता है* , वस्तु-तन्त्र है, या यों कहिये कि अपने वस्तु-रूप विषय को वस्तु के तत्-वस्तुत्व में *जान पाता* है, तो ज्ञान और ज्ञेय के बीच एक गहरी व्याप्ति स्वीकार करनी होगी। एक निरपेक्ष व्याप्ति। नहीं तो हम *ज्ञान* की बात ही नहीं कर सकते। ज्ञान के लिये यह व्याप्ति एक अनिवार्य, आधारगत संबंध है। ज्ञान हुआ या नहीं हुआ यह प्रश्न ज्ञान के *होने के बाद* ही उठता है, और प्रश्न ज्ञान नहीं उठाता, विचार उठाता है, जिसे वस्तु-तन्त्र कहें तो बात की दिशा ही कुछ और होगी (शंकर के लिये विचार मानसी क्रिया होगी जिसे वे वस्तुतन्त्र बिल्कुल नहीं मानते)। पर विचार चाहे क्रिया हो, *ज्ञान* के लिये *ज्ञेय* साक्षात्, निरन्तरीयक-भाव से - बिना किसी अंतराल के - प्रस्तुत होता है - सिद्ध, प्रदत्त, अनिवार्यतः उपस्थित। इसे ज्ञान-ज्ञेय की सहज व्याप्ति कह सकते हैं। पर इस व्याप्ति के साथ हम एक और सहज व्याप्ति की बात भी चाहें तो कर सकते हैं : हम वस्तु-संबंध की भी सहज अनन्तरीय प्रस्तुति की बात कर सकते हैं - क्योंकि ज्ञान में ज्ञेय की प्रस्तुति एक वस्तु की नहीं होती *वस्तुओं* की होती है, पर ज्ञान के अंतरंग में ही *विच्छिन्न* वस्तु-अनैक्य की नहीं होती। वस्तुओं में एक योजना - एक संबंध-व्यवस्था - निहित होती है जो अनायास ही वस्तुओं को परस्पर भाव में *जानती* है। संबंध क्या? यह प्रश्न बाद में उठता है।

पशु में हम साधारण तौर पर ज्ञान की बात नहीं करते। पर एक ज्ञान-तुल्य बोध उसे भी होता ही है। ज्ञान-ज्ञेय की एक प्राण-निष्ठ व्याप्ति हम पशु में देख सकते हैं। इसे हम नाम जो

भी दें, और इसकी जैसी भी व्याख्या-मीमांसा करें, पशु की जिजीविषा से जुड़ा, पशु का वस्तु-तन्त्र बोध, हमारे ज्ञान-ज्ञेय संबंध से एक अंतर्निष्ठ साधर्म्य रखता है : पशु - निम्न से निम्न पशु, या कहिये प्राणिमात्र - इनमें ज्ञान-ज्ञेय संबंध के साथ ज्ञेयों के बीच भी एक संबंध-व्यवस्था का अविचारित बोध होता है : अन्न की, और अन्न के साथ अन्न-प्राप्ति-व्यवस्था की, उनमें स्वभावगत चेतना होती है, जिसे पशु-चेतना के निगूढ़ में निविष्ट ज्ञान-ज्ञेय-और-ज्ञेयों-के-बीच-व्यवस्था की व्याप्ति कहें तो बात विरुद्ध या अनहोनी नहीं होगी। एक डोर होती है जो जीव को जगत् से जोड़ती है। हम प्रश्न उठा सकते हैं कि जीव में जिसे ज्ञान-ज्ञेय का भेद कह सकें ऐसी अंतःचेतना कहां? जिसे सचमुच ज्ञेय-*जगत्* का नाम दे सकें ऐसा बोध ही कहां? पशु में भीतर-बाहर की चौखट ही स्पष्ट उभरती नहीं जान पड़ती। पर पशु में भी - अस्पष्ट ही सही - ज्ञान-ज्ञेय का द्वैध होता है और दोनों के बीच हमसे कहीं अटूट व्याप्ति होती है। बल्कि हम यहां तक कह सकते हैं कि *हमारे* ज्ञान की वस्तुतन्त्रता से पशु-ज्ञान (या बोध या भान या चेतना, कुछ भी कहिये), उसकी वस्तुतन्त्रता कहीं अतल-अगाध होती है - जो ज्ञेय में एक व्यवस्था को अंतर्निहित रखती है। और यह भी प्रकट है कि पशु के ज्ञान को पशु के कर्म - या व्यापार-व्यवहार से - अलग नहीं कर सकते। शंकर जिस अर्थ में ज्ञान को *कर्म से बिल्कुल हटाते हुए* वस्तुतन्त्र कहना चाहते हैं, वह बात पशु में नहीं बन सकती।

पर *हम* पशुओं से भेद रखते हैं : आत्मचेतन हैं - अपनी सहज प्रवृत्तियों से - कर्म से - तटस्थ रहते हुए वस्तु-बोध कर सकते हैं। शंकर का इसी ओर इंगित था। पर माना हम ज्ञान में कर्म से तटस्थ रह सकते हैं, पर क्या हम ज्ञान को विचार-विमर्श से भी तटस्थ रख सकते हैं? शंकर स्वयं ज्ञान की वस्तुतंत्रता की बात को विमर्श से ही उभारते हैं। हम आत्मचेतन हैं तो यह भी हमारे लिये स्वाभाविक ही है कि *हमारे लिये* बिना विमर्श के कोई ज्ञान वस्तुतन्त्र हुआ या नहीं, यह बात प्रश्न के घेरे में रहती है। अब, विमर्श तो कोई निर्गुण-निरपेक्ष, आकाशवत् बोध नहीं होता। उसकी अपनी अपेक्षायें होती हैं; वह तो साफ ही *कर्म* होता है (जैसा शंकर भी मानते हैं)। साथ ही, इस कर्म की अपनी इतिकर्त्तव्यता भी होती है - या कहना चाहिये कि अपनी *प्रकारता* होती है। नहीं लगता कि मनुष्य के लिये ज्ञान निरपेक्ष वस्तुतन्त्र हो सकता है?

पर हम फिर भी ज्ञान की वस्तुतन्त्रता का पक्ष लेते हुए कह सकते हैं कि विमर्श या विचार की भी अपनी व्याप्तियां *होती* हैं - वस्तु की तरह ही प्रदत्त होती हैं - जिन पर विमर्श आधारित होता है। हम यहां जिसे विमर्श-*कर्म* कह रहे हैं वह और कुछ नहीं, बस इन व्याप्तियों तक ले जाने वाला द्वार है : व्याप्ति तक विचार पहुंच जाये तो फिर व्याप्ति अपना काम स्वयं करती है, वैसे ही जैसे वस्तु-ज्ञान में हम इन्द्रिय को वस्तु के सन्निकर्ष तक ले जाते हैं, पर फिर ज्ञान स्वतः होता है, हमारे कर्म की अपेक्षा नहीं रखता।

पर यहां यह भी सोचना चाहिये : यह तो ठीक है कि विचार के अपने अंतर्संबंध होते हैं जिन्हें व्याप्ति कह सकते हैं। बल्कि व्याप्ति की बात पूरी ही विचार पर उतरती है, बाह्य-ज्ञान

पर नहीं - चाहे नैयायिकों ने बाह्य जगत् के कार्य-कारण व्यापार को भी व्याप्ति के घेरे में रखा हो। विचार की व्याप्ति तर्क में होती है, जहां प्रत्ययों के संबंधों में अनिवार्यता का बोध होता है। व्यापकतर प्रत्यय अपने भीतर दूसरे प्रत्ययों को समोता है, जिन पर वह व्याप्त होता है। और यह प्रत्ययों की स्वतोव्याप्ति है, विमर्श जैसे किसी कर्म की अपेक्षा नहीं रखती। पर विमर्श इन व्याप्तियों से मुक्त भी होता है, इन पर भी प्रश्न उठा सकता है - इन्हें अन्यथा कर सकता है : प्रत्ययों की परिधि बदल सकता है, उन की भिन्न मीमांसायें कर सकता है। शंकर तभी तर्क को अप्रतिष्ठ मानते थे।

प्रत्ययों में किसी स्वप्रतिष्ठ अनिवार्य व्याप्ति का अभाव हमारे ज्ञान मात्र को अनिवार्यता के स्तंभ से डिगा देता है। प्रत्यय ज्ञान पर भी व्याप्त होते हैं। हमारा ज्ञान प्रत्ययों में पिरोया रहता है। हमारे लिये ज्ञान को विचार से सर्वथा स्वतन्त्र करना ही टेढ़ा प्रश्न खड़ा करता है।

पर शायद हम फिर भी कह सकते हैं कि अपने जीवन में हम ज्ञान-जीवी होते हैं, प्रत्यय-जीवी नहीं - ज्ञान में वस्तु के होने का और वस्तु-व्यवस्था के होने का एक गहरा अध्यवसाय होता है जो प्रत्यय मात्र में नहीं होता - एक आश्वासन होता है जो विचार मात्र के लिये पराया है, पर जिस पर हमारी जिजीविषा टिकी होती है।

पर जैसा मैंने अभी ऊपर कहा, हमारे वस्तु-ज्ञान के साथ होते विमर्श की अपनी प्रकारता भी होती है जो हममें हमारी आत्मचेतना के साथ उभरती है। यह *प्रकारता* हमारी अपनी सृष्टि नहीं है, न हमारे आत्मचेतन बोध का प्रत्ययमय होना हमारी किसी चेष्टा का फल है, चाहे आत्मचेतन होते हुए हममें स्वातन्त्र्य भी हो और प्रत्ययों का प्रयोग हम अपनी तरह कर पाते हों। हमारे बोध की प्रकारता हमारे बोध में निहित होती है। हमारी बाह्य जगत् के प्रति कार्य-कारण दृष्टि ऐसी ही प्रकारता है।

पर हम पूछ सकते हैं, प्रकारता ने यह रूप क्यों लिया? यह पूछते ही कर्मेन्द्रियों की बात उठना स्वाभाविक है। कार्य-कारण बोध का आधार ऐसे प्राणी में - ऐसे आत्मचेतन, प्रत्यय-बोध-मय प्राणी में भी - उभरता नहीं दिखता जो केवल ज्ञानेन्द्रियों से बाह्य जगत् को जानता हो। हम मान भी लें कि केवल ज्ञानेन्द्रियों से भी जगत् का ऐसा ज्ञान हो सकता है जिसमें वस्तुएं भी हों और वस्तुओं के बीच संबंध भी हों, तो भी कर्मेन्द्रियों के बिना इन संबंधों में *कार्य-कारण-भाव* का कोई संगत अनुप्रवेश और स्थान नहीं बनता। इस बोध का उत्स हमारे देह-मन-प्राण के स्वरूप से ही उभरता दीखता है - विशुद्ध ज्ञान-स्वरूप तो इसके बिना भी संभव बन पड़ सकता है। हम कर्मशील न हों तो बाह्य-जगत्-बोध के दूसरे कई रूपों की कल्पना की जा सकती है, जहां कार्य-कारण का स्थान नहीं। मैं समझता हूं कि हमारी प्राण-प्रवृत्ति-निष्ठ कर्मेन्द्रियों में ही कार्य-कारण-बोध का समीचीन उत्स देखा जा सकता है।

यही नहीं, हम जो जगत् में अंतः और बाह्य का भेद करते हैं, इस भेद में भी कर्मेन्द्रियों की एक आधार-गत भूमिका देखी जा सकती है। हम बाहर को केवल *जानते* ही हों, बाहर

आ कर कुछ *करें* नहीं, तो बाहर को अंतर में भी समेट ले सकते हैं। यह हमारी जिजीविषा से उठता हुआ *कर्म* का संबंध है जो अंतः-बाह्य दोनों में व्याप्त होता है और दोनों में भेद करता है। भेद करता हुआ भी अंतः के साथ बाह्य को संश्लिष्ट करता है। यही कर्म-निष्ठ जगत्-बोध फिर हमारे जगत्-विमर्श में व्याप्त होता है - जहां हम ज्ञान में जगत् को ज्ञेय-रूप में अपने आप से सर्वथा भिन्न करते हुए फिर ज्ञान और ज्ञेय का अतः-संबंध साधते हैं।

हम जिसे साधारण तौर पर और सही अर्थ में कर्म कहना चाहते हैं - प्रवृत्ति मात्र से, उसे चेतना के विचार जैसे अंतः कर्म से व्यावृत्त करते हुए कर्म कहना चाहते हैं -वह केवल चेतना की अंतः-चेष्टा की बात नहीं होती - उसमें एक बाह्य कर्म-*भूमि* की भी अपेक्षा रहती है। यह भूमि हमें कर्मेन्द्रियों के माध्यम से उपलब्ध होती है, केवल ज्ञानेन्द्रियों के द्वार से नहीं। साथ ही, ज्ञान और ज्ञेय के संबंध की तरह कर्म और कर्मभूमि का अंतः-बाह्य प्रवृत्तिमय संबंध हममें एक सहज व्याप्ति के रूप में उजागर होता है। नैयायिकों ने कार्य-कारण में जो व्याप्ति की बात की है वह तर्क जैसी तो नहीं हो सकती - प्रत्ययों के संबंधों जैसी अनिवार्यता नहीं पाल सकती जहां हमें विचार के भीतर अकाट्यता का बोध होता है। पर हमारा प्रवृत्तिमय कर्म-स्वभाव कार्य-कारण के प्रति व्याप्ति जैसी ही अकाट्यता के आश्वासन में पलता है।

विचार की भूमि पर हम प्रत्ययों के व्याप्ति-संबंधों में और प्राकृतिक जगत् की वस्तुओं और भौतिक शक्तियों के बीच बनते संबंधों में मूलगत कोटि-भेद करते हैं - जो युक्त ही जान पड़ता है। विचार के प्रत्यय जिस भूमि पर बनते हैं वह भूमि बोध के आत्म-प्रकाश की भूमि है - ऐसी भूमि है जिसे *पारदर्शी* भी कहा जाता है -(अभिनव गुप्त ने इसे स्वच्छ, स्फटिकसम कहा है)। विचार की भूमि की पारदर्शिता इसमें है कि विचार अपनी गतियों को, अपने आप को, अपने पर प्रकाशित करता हुआ प्रवृत्त रहता है। यों तो आत्मचेतना मात्र में यह उजागर भाव रहता है, पर विचार में इसका आत्मबोध विशेष स्फुट होता है - विचार अपने आप को मानो एक निर्मल दर्पण में देखता-परखता चलता है। विचार में प्रत्ययों के कुछ ऐसे संबंध उभरते हैं जहां एक प्रत्यय का दूसरे से अनिवार्य सहचार होता है - अविनाभाव होता है : एक दूसरे से *उपपन्न* होता है (जैसे स्वातन्त्र्य के प्रत्यय के बिना कर्म के प्रत्यय की उपपत्ति नहीं हो सकती) या दूसरे को अपने भीतर समोये रहता है (जहां जहां शिंशपात्व है वहां वहां वृक्षत्व है)। यही तर्क का आधार कहा जा सकता है। यहीं *व्याप्ति* की बात की युक्तता भी लगती है। तभी हम कह सकते हैं कि स्वातन्त्र्य के प्रत्यय के बिना कर्म का प्रत्यय अकल्पनीय है - दूसरे शब्दों में स्वातन्त्र्य कर्म पर व्याप्त है। या प्रत्ययों की और भी विशुद्धतर व्याप्ति की धारणा कर सकते हैं, जहां बाह्यता का कोई इंगित ही न हो जैसा कर्म के प्रत्यय में हो सकता है। हम कह सकते हैं कि व्यावृत्तिमयता - या व्यावृत्तित्व - प्रत्ययत्व पर व्याप्त है : प्रत्यय अनेक होते हैं और एक प्रत्यय अन्य प्रत्यय की व्यावृत्ति से ही बनता है - चाहे व्यावृत्तियां अनेक प्रकार से की जा सकती हैं। पर यह बात विचार मात्र पर खरी उतरती है (और विचार-भेद भी साधती है)। हम इसका निषेध भी

करेंगे तो प्रत्ययों की परस्पर व्यावृत्ति की प्रक्रिया से हट कर नहीं कर सकेंगे, क्योंकि यह विचार का स्वरूप ही है। इसका निषेध विचार का ही निषेध होगा। वृक्षत्व की शिंशपात्व पर व्याप्ति में ऐसी विरोध-न-सह-सकती अंतरंगता नहीं है - क्योंकि वह परिभाषा पर निर्भर करती है : शीशम का वृक्ष की श्रेणी में रखा जाना और वृक्ष की परिभाषा, दोनों में बदलाव की आसानी से कल्पना की जा सकती है। पर पहली व्याप्ति का व्यापक-व्याप्य भाव ऐसा है कि विचार करते हुए हम इसका निषेध नहीं कर सकते।

व्याप्ति की बात हम गणित में भी कर सकते हैं - चाहे भारत में की नहीं गई हो। हां, वहां व्याप्ति का स्वरूप ठीक विचार जैसा नहीं है। तर्क से उसकी तुलना की जाती है, पर गणित तर्क नहीं है - उसकी अपनी गतियां हैं, अपने संबंध हैं, जिनमें एक अपनी सी अनिवार्यता का भाव होता है, पर इन्हें तर्क के संबंधों में अपचित नहीं किया जा सकता। तर्क भाषा में होता है, जिसकी पहुंच हमारे अंतः और बाह्य जगत् के साथ उस जगत् पर विमर्श को भी अपनी परिधि में घेरती है। भाषा हमारे जगत् को बनाती है। पर गणित के बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता - उसका अपना अलग ही संसार बनता है, जिसका हमारे भाषानुविद्ध परिचित जगत् से संबंध है तो, पर वह एकपक्षीय कहा जा सकता है - गणित मापता है, वस्तु के वस्तुत्व के प्रति निरपेक्ष रहता हुआ मापता है, जो कि भाषा नहीं कर सकती। भाषा के विपरीत, गणित के घटक सार्थक पद या शब्द नहीं होते। यह ठीक है कि शब्द की तरह गणित के प्रतीक भी *सामान्यता* में घटित होते हैं - संख्या का या ज्यामिति की आकृतियों का *अर्थ* नहीं होता, पर फिर भी वे संगीत के स्वर की ही तरह हमारी चेतना के सामान्य-निष्ठ बोध में पलती हैं। पर वे स्वर से भिन्न हैं - इस अर्थ में कि भाषा की तरह गणित के घटक बाह्य जगत् पर *लागू* हो सकते हैं। उनका जगत् से संबंध भाषा से भिन्न है - और सीमित है। विशुद्ध गणित में गणित के घटक परस्पर-व्याप्ति जैसा संबंध रख सकते हैं, पर संगीत की तरह ही जगत् से असंपृक्त। जगत् पर लागू हम उन्हें *करते* हैं, और इसके लिये उनमें अनुकूल रूप भी साधते हैं - जैसा कि भौतिक विज्ञान के विकास में स्पष्ट ही है। भौतिक विज्ञान गणित को अपने भूत-जगत्-विचार का अंग बनाता है तो इस जगत् को अपनी तरह से आँकने के लिये प्रत्ययों का एक विशेष ढाँचा साधता है। साथ ही गणित की भी अपने प्रयोजन-योग्य विशेष गतियां उभारता चलता है।

साफ है कि तर्क या गणित में व्याप्ति की बात जिस आश्वस्त अनिवार्य भाव के साथ की जा सकती है कार्य-कारण में नहीं की जा सकती। बाह्य जगत् में विचार के अंतःजगत् जैसी पारदर्शिता नहीं होती। बाह्य-जगत् को हम कार्य-कारण के आधार पर समझने की चेष्टा में उसे कार्य-कारण-निष्ठ मान कर चलते हैं और इसमें प्रवृत्ति-साफल्य भी पाते हैं, उसकी गतियों की पकड़ का पसारा भी बढ़ाते चलते हैं, पर ऐसा कोई भरोसे का आधार नहीं होता कि जो कार्य-कारण संबंध हमें दिख रहा है, और जिस के आधार पर हम कुछ *कर पा रहे* हैं, वह बाह्य जगत् में *स्वरूपगत* है। विचार के जगत् की तरह बाह्य जगत् हमारे बोध को आत्मविदित नहीं होता - नितांत पराया होता है। बेगाना। विचार हमें यह चेतावनी

देता जान पड़ता है कि वहां किसी अनिवार्य व्याप्ति की बात करना व्याप्ति के सही अर्थ के साथ खिलवाड़ है - व्याप्ति के अर्थ का ही निषेध है।

पर ऊपर की चर्चा में व्याप्ति का एक व्यापक रूप उभारने की चेष्टा भी मैंने की है, जिसे ध्यान में रखें तो पायोंगे कि हम अपनी जगत्-प्रवृत्ति में भी संबंध के उसी अनिषेध्य निगूढ मर्म का अनुभव करते हैं जो विचार की व्याप्ति में पाते हैं। व्याप्ति एक अनिवार्य संबंध की ही नहीं, एक संबंध-व्यवस्था की भी अपेक्षा रखती है। और सच पूछें तो हम अपनी प्रवृत्ति मात्र में एक व्यवस्था का अटल सा बोध पालते हैं, नहीं तो प्रवृत्ति का क्षेत्र ही नहीं बनेगा - अंतःक्षेत्र हो या बाह्य क्षेत्र। तभी जो सचमुच निवृत्ति को केन्द्र में रखते हैं वे अंतः-बाह्य सभी प्रवृत्तियों को असत् नहीं तो तुच्छ ठहराते हैं - चाहे निरात्म कहें या माया या ऐसा ही कुछ और। निवृत्ति का सर्वतोमुख निराकरण केवल कार्य-कारण का ही निराकरण नहीं करता, विचार का भी निराकरण करता है, उसमें व्याप्ति की उपस्थिति देखते हुए भी व्याप्ति की धारणा में ही अंतर्विरोध भी दिखाने की दिशा लेता है - जैसे कि नागार्जुन ने ली है। और यह सच भी है कि व्याप्ति के द्वार से अनिवार्यता का बोध विचार के भीतर भी प्रश्न, संशय की उपस्थिति को टाल नहीं सकता; विचार का अपना ही आलोड़न विचार के मूल में खड़े व्यवस्था-बोध को विचलित रखता है।

प्रश्न, संशय, भ्रान्ति, इनकी उपस्थिति इन्हें निवृत्ति की उपस्थिति का संकेत भी कहा जा सकता है। चेतना अपनी सहज प्रवृत्तियों से अलग हट कर उन्हें तटस्थ-निवृत्त भाव से देख न सके तो प्रश्न, संशय, भ्रान्ति की बात उठ ही नहीं सकती। हम कह सकते हैं - देख भी सकते हैं - कि पशु भी भ्रान्त हो जाते हैं : खिड़की से कमरे में अचानक भटक आई चिड़िया या तितली की बात सोचिये। पर पशु को भ्रान्ति का आत्मबोध नहीं होता। होता तो फिर संशय और प्रश्न भी जाग उठते - प्रवृत्ति से बिल्कुल निवृत्त हो जाने की संभावना भी उजागर होती।

पर एक बात फिर भी है : निवृत्ति को केन्द्र में रखने वाले दर्शन भी व्यवस्था का संपूर्ण निराकरण नहीं करते हैं - चाहे उसे तुच्छ कहें या माया या कल्पना। हां, *निरात्मवाद* में व्यवस्था का भी निराकरण निहित है - पर निरात्मवादी जहां तक प्रवृत्तिशील होता है, ज्ञान में हो या कर्म में, वहां तक अपने विचार में भी - और विचार में ही नहीं अपने गहनतम जगत्-बोध में भी - व्यवस्था का शब्दों में निषेध करता हुआ भी अपने जीवन में नहीं करता। अपनी बाह्य-प्रवृत्ति में कार्य-कारण पर भरोसा रखता ही है; अपने विचार में भी व्याप्ति को काम में लेता चलता ही है। वह सचमुच ही सब कुछ को यादृच्छिक, आगन्तुक - और यों निरर्थक - माने तो आत्महत्या की ओर झुक जा सकता है (पर वहां भी यह व्याप्ति तो ऊह्य ही रहती है कि आत्महत्या के बाद उसका सचमुच अंत हो जायेगा!)। निरात्मवादी अध्यात्मपरक हो - जैसा कि कई बौद्धों में हम पाते हैं - तो सर्वथा निरर्थकतावादी नहीं होता - जगत्-भाव के बाहर सार्थकता तलाशता और पाता है। पर निरात्मवाद अगर निर्वाण-वाद की ओर उन्मुख न हो तो उसकी विपन्नता और भग्नता गहरी,

बड़ी रौद्र सी विभीषिका हो सकती है। ऐसा कई संवेदनशील आधुनिक मनीषियों में देखा जा सकता है। पर निरात्मवाद विचार की एक कोरी हवा भी हो सकती है, जैसा हम कइयों में देख पाते हैं। यह हवा विज्ञान के नाम पर भी बहती है। यह भोगवाद की ओर बहा ले जा सकती है। भोग चाहे यादृच्छिक हो, पर है तो भोग ही - उसमें सत्य की, सार्थकता की न तलाश है, न बाधा। जब तक चले, चले।

विज्ञान के आधार पर जो निरात्मवाद की हवा बनी है उसका विज्ञान से परोक्ष सा ही संबंध लगता है। *विज्ञानवाद* - या विज्ञान से उभरते कुछ दर्शन - ऐसा मानते लगते हैं कि प्रकृति कारण-निष्ठ होती हुई भी यादृच्छिक-स्वभाव है - अर्थात् निःस्वभाव है - और चूंकि प्रकृति से बाहर कुछ भी नहीं तो हम भी निःस्वभाव हैं - हमारा स्वातन्त्र्य और उसमें बसता हमारा ज्ञान, हमारा कर्म, सब जड़ की माया है, प्रपंच है या छलावा है - आपात-दृश्य वस्तुओं और संबंधों में कोई तत्त्व या स्वभाव नहीं है। चाहे सब कार्य-कारण-निबद्ध हों - पर यह कार्य-कारण भाव निष्प्रयोजन है, आगन्तुक है - दूसरे शब्दों में निरर्थक, *निरात्म* है।

यह दृष्टि कार्य-कारण का निषेध भी कर सकती है : आज के भौतिक विज्ञान में परमाणु-व्यापार का अध्ययन कार्य-कारण भाव को नकार सा ही देता है - उसे एक *प्रवणता* मात्र के रूप में देखता है - एक संभावना की अनिश्चित रेखा। परमाणु-वैज्ञानिक कहता है कि हमारे किसी भी परिचित विचार या व्यवहार के प्रत्ययों से प्रकृति की निगूढ़ अणु-गतियों को आँका- समझा ही नहीं जा सकता - तात्पर्य यही निकलता है कि कार्य-कारण भाव के साथ साथ विचार के अपने उपपत्ति-संबंध, ये भी भौतिक जगत् को समझने में समर्थ नहीं हो सकते।

पर वैज्ञानिक फिर भी परमाणु और ऊर्जा-तरंगों की अनहोनी सी गतियों को आँकता ही है।

एक विचित्र सी व्याप्ति को मानता हुआ आँकता है - जिस पर दृष्टि डालना यहां प्रसंगगत होगा। परमाणु वैज्ञानिक परमाणु-जगत् के बोध के लिये भाषा को असमर्थ माने पर यह फिर भी मानता है कि गणित की गति भौतिक जगत् पर व्याप्त होती है। यहां सोचने की बात यह है कि गणित के अपने घटक होते हैं : संख्या, ज्यामितिक आकृति : जिन्हें सात्म कहें या निरात्म - स-स्वभाव कहें या निःस्वभाव - इसी प्रश्न का उत्तर पहेली है। फिर, गणित की जो अपनी व्याप्तियां होती हैं वे भी अपने आप में विचित्र हो सकती हैं - उनका प्रकृति या भौतिक जगत्-निष्ठ वस्तुओं के स्वकीय संबंधों से कोई साम्य आपाततः तो नहीं ही दिखता है। अब, जब संख्यायें या ज्यामितिक आकृतियां, इनका अपना *होना* ही एक उलटबांसी हो, जब उन्हें हम न भौतिक कह सकते हों न भाषा-गत, तो उन्हें भूत-जगत् पर व्याप्त मानने का क्या भरोसा? पर ऐसा मानने में वैज्ञानिक को कोई द्विधा नहीं होती। क्योंकि भूत-जगत् पर गणित की व्याप्ति को वह प्रमाणित करता है : प्रयोगशाला में उसका सत्य निर्धारित करता है।

प्रयोगशाला को हम उपायशाला भी कह सकते हैं - क्योंकि जिन प्रयोगों से भौतिक-जगत् के संबधों का परीक्षण करते हैं वे बड़े उपाय-कौशल की मांग करते हैं। प्रयोग-

प्रक्रिया, परमाणु-जगत् में होते किसी व्यापार की अनुवृत्ति साधने की प्रक्रिया होती है - प्रकृति के निगूढ़ व्यापार को अवलोकन-परीक्षण के लिये दोहराने की चेष्टा होती है। इसके लिये विशेष कौशल की और कौशल से साधे गये विशेष साधनों की - यंत्रों की - ज़रूरत होती है।

पर प्रयोग से जब हम परमाणु-व्यापार के सूक्ष्म-विचित्र जगत् की किसी गति को सामने लाते हैं तो एक मौलिक विचारगत समस्या भी सामने आती है: प्रयोगशाला और प्रयोगशाला के यंत्र तो परमाणु जगत् में नहीं होते, उस जगत् से विच्छिन्न हमारे साधारण व्यवहार जगत् में होते हैं। हम अपने परिचित जगत् में रहते हुए, उसी जगत् के साधनों और उपायों से ही परमाणु के असाधारण लोक में प्रवेश करते हैं। फिर गणित से उस लोक की गतियों को आँकने की चेष्टा करते हैं। व्याख्या करते हैं और उस व्याख्या की परीक्षा के लिये नये प्रयोग साधते हैं। अब यह भी है कि परमाणु-जगत् को समझने के लिये की गई व्याख्या केवल गणित में ही नहीं होती, गणित-से-सर्वथा-भिन्न, विचार के साधारण भाषा-निबद्ध प्रत्ययों में भी गुँथी होती है (और सच पूछें तो गणित भी - कितना ही विचित्र और *विशुद्ध - स्वप्रतिष्ठ* गणित क्यों न हो - वह साधारण भाषा के प्रत्ययों के बिना खड़ा नहीं हो सकता)। निष्कर्ष यही निकलता है कि हमारा भूत-जगत् संबंधी बोध कितना ही विज्ञान का अपना गणित-विद्ध बोध हो - इस बोध की सिद्धि, इसका प्रमाणीकरण, व्यवहार जगत् में ही हो सकता है तो इस जगत् को ऊह्य भी रखता है। उससे विच्छिन्न किस अर्थ में है, यह एक पहेली ही रह जाती है।

इतना तो दिखता ही है कि हमारा परमाणु के *ज्ञान* का स्वरूप जो भी हो, वह कई परस्पर असंगत लगते व्यापारों की संगति से बनता है। तभी हम उसे वास्तव ज्ञान के रूप में प्रमाणित तभी मानते हैं जब उससे व्यवहार-जगत् में कोई चमत्कारी व्यापार या वस्तु घटित हो सके - जैसे परमाणु बम। जिस जगत् के लिये हम कहते हैं कि उसका व्यवहार जगत् से कोई संबंध नहीं, उस जगत् के लिये हम व्यवहार को ही अंतिम प्रमाण बनाते हैं।

विज्ञान के लिये परमाणु-जगत् ही पहेली नहीं है, उस जगत् का हमारे आगे आभासित होते साधारण जगत् से संबंध भी एक पहेली है। विज्ञान अनुभव के साधारण जगत् को ही सूक्ष्मता से जानने-समझने के लिये साधारण जगत् का ही विश्लेषण करता हुआ परमाणु जगत् में उतरता है। *वह* जगत् *इस* जगत् की नींव, इसका आधार, होना चाहिये। पर विज्ञान के लिये उस असाधारण जगत् का हमारे अनुभव के जगत् से संबंध पहेली ही रह जाता है। पर फिर भी संबंध से इनकार भी नहीं कर सकते। संबंध से ही नहीं, अगर विज्ञान को बाह्य जगत् के ज्ञान का समुचित मार्ग मानें तो परमाणु-जगत् को परिचित जगत् का *आधार* कहने से भी इनकार नहीं किया जा सकता। पर यह कैसा आधार है? किस रूप में आधार है? विज्ञान-निष्ठ दर्शन - या विज्ञान-निष्ठ विचार की एक प्रमुख धारा - समस्त जगत् को परमाणुओं का संघात या स्कंध या सन्तान मात्र मानती है - क्योंकि परमाणुओं और उनको जोड़ती-तोड़ती शक्तियों में *अवयवी* बनाने के कोई गुणधर्म नहीं; अर्थात् जिस वस्तुमय व्यवहार-जगत् को हम साधारण ज्ञान से जानते हैं और जिसमें कुछ करते हुए कुछ नया साधते

हैं, उस जगत् को विज्ञान स्वभाव-शून्य ही मान सकता है। जगत् की वस्तुएं और धटनाएं औ उसमें किये गये कर्म चंचल परमाणुओं के ढेर हैं; उनका अपना कोई तथात्व नहीं है।

इस दृष्टि की विडम्बना यह है कि निरात्म परमाणुओं और उनके प्रतीत्य-समुत्पन्न-सं संबंधों का ज्ञान इसे व्यवहार के जगत् में ही करना पड़ता है, और उसे स-स्वभाव मानते हु करना पड़ता है - क्योंकि व्यवहार-जगत् को निःस्वभाव मानने पर इस जगत् में परमाणुओं के अस्तित्व का प्रमाण ढूंढना भी एक ढकोसला ही हो जायेगा। पर यह बात जहां एक ओर गह विडम्बना जैसी लग सकती है वहीं विज्ञान के चमत्कार विज्ञान के ज्ञान को हमारे लिये अनिषेध्य सा प्रत्यक्ष बना देते हैं - साक्षात् सामने खड़ा कर देते हैं। और हम अभिभूत हो जाते हैं।

पर यह भी सोचने की बात है : विज्ञान निरात्मवाद को प्रश्रय देते हुए भी निवृत्तिमुख नहीं है। यह बात वैज्ञानिक, विज्ञान के दार्शनिक और विज्ञान के श्रद्धालु सब में प्रकट है विज्ञान के प्रमाण-व्यापार में भी प्रकट है ही, जैसा कि हमने अभी देखा। विज्ञान स्पष्ट ही ज्ञान और ज्ञेय के बीच एक अटल व्याप्ति मानता हुआ आगे बढ़ता है, जो कि निवृत्तिवाद नहीं मान सकता - चाहे वह निरात्मवादी हो या नहीं हो। निवृत्तिवादी के लिये ज्ञान का अ और ही होगा, जिसका व्यवहार और व्यवहार-जगत् से संबंध नहीं हो सकता : शंक यथार्थ ज्ञान - ब्रह्म-ज्ञान - को निर्विषय कहते ही हैं। विज्ञान के लिये ज्ञान और ज्ञेय के बीच जो व्याप्ति है वह वैसी ही है जैसी हम जीवन के व्यवहार में ज्ञान और ज्ञेय के बीच सहज ही पालते हैं, और जो मानो जिजीविषा के संस्कार में ही एक अनिवार्य आश्वासन के साथ बसी होती है। व्यवहार के प्रति निरात्म-भाव की मनीषा रखते हुए भी व्यवहार को ही प्रमाण बनाने में विज्ञान जैसा उदाहरण दूसरा नहीं हो सकता।

पर निरात्मवादी बौद्ध व्यवहार में न सार्थकता देखते हैं न कोई प्रामाणिकता। इसीलिये बौद्धों के लिये ज्ञान और ज्ञेय की व्याप्ति तुच्छ है। सत्य नहीं, सांवृतिक है। परमाणु वैज्ञानिक के लिये भी वह सांवृतिक ही होनी चाहिये, पर फिर उसका परमाणु-ज्ञान ही नहीं बनेगा।

विज्ञान में *ज्ञान* को जैसे भी समझा जाये, एक बात साफ दीखती है : ज्ञान वहां कर्म से युगनद्ध है। कर्मेन्द्रिय के बिना नहीं हो सकता और बाह्य जगत् में किये गये *उपाय* की अविनाभावेन अपेक्षा रखता है। कर्मेन्द्रियों के बिना प्रयोगशाला की कल्पना नहीं की ज सकती। विमर्श करते हुए हम कार्य-कारण बोध को केवल ज्ञान-निष्ठ अन्वय-व्यतिरेक के साथ भी जोड़ने के आदी हैं। उसे अगर कर्म कह भी दें तो एक प्रकार का अंतः कर्म ही कहना चाहेंगे जो हम ज्ञान-व्यापार के भीतर करते हैं - उसका विचार से संबंध बनता हो प *बाहर* किये गये किसी कर्म से नहीं, जिसके लिये कर्मेन्द्रिय की आवश्यकता पड़े। विज्ञान भी अन्वय-व्यतिरेक की पद्धति अपनाता है, पर अन्वय-न्यतिरेक वहां स्पष्ट ही प्रयोगशाला में उपाय-कौशल से *किया जाता काम* है। वैसे भी नहीं लगता कि अन्वय-व्यतिरेक केवल अंतः के विमर्श जैसे कर्म से सिद्ध हो सकता हो, पर विज्ञान में तो प्रकट ही वह बाह्य-चेष्टा-जन्य होता है।

विज्ञान में उपाय-प्रयोग के दो आयाम देखे जा सकते हैं। एक का संबंध जिज्ञासा से है, दूसरे का उपादेयता से। विज्ञान भूत-जगत् को - या अधिक व्यापक अर्थ में कहें तो - प्रकृति को जानने-समझने के लिये विचार के सह-*कर्मी* के रूप में प्रयोग-कर्म करता है, और वहां किसी व्याख्या या ऊह को जाँचने के लिये युक्त प्रयोग के उपाय साधता है। उपाय यहां उसकी जिज्ञासा का अंग होता है - या उसे ज्ञान-धर्मी कह सकते हैं : वह ज्ञान के स्वतन्त्र पुरुषार्थ का साथी होता है, जहां उपाय को किसी सुख-सुविधा की तलाश के हानोपादान से नहीं जोड़ा जा सकता -जिसे हम उपादेयता कहते हैं। उपाय का उपेय यहां ज्ञान होता है; उपाय जिज्ञासा की अपनी यात्रा का संबल होता है।

हम देख चुके हैं कि उपाय-साधना का जो मार्ग विज्ञान अपनाता है वह व्यवहार की ही धरती पर खड़ा होता हैं - विज्ञान अपने सूक्ष्मतर, व्यापकतर, गहनतर अवलोकन के लिये नये यंत्र और नवीनतर यंत्रों की संभावना और परिष्कार के द्वार खोलता चलता है - उसके *ज्ञान* का विस्तार और विकास इस प्रक्रिया में ही पलता है : प्रकृति के किसी व्यापार का नया ज्ञान, या किसी नये व्यापार की गतियों में पैठ, नये यंत्रों की मांग करती है, जिनसे उन गतियों को प्रयोग में दोहराते हुए उन्हें आँका जा सके। ये गतियां अपने आप में क्या हैं? - कारणमयी हैं या नहीं, विचार के लिये यह संशय प्रश्न हो सकता है, पर *प्रयोग* में इनकी अनुवृत्ति साधने का *उपाय* जिन नये यंत्रों को जन्म देता है वे यंत्र कार्य-कारण को ही आधार बनाते हैं - और नया यंत्र बना सकने की प्रक्रिया या नये यंत्र की संभावना एक बार आगे आ जाये तो बात प्रयोगशाला तक सीमित नहीं रहती, साधारण व्यवहार की विभिन्न उपादेयताओं का भी अंग बन जाती है - जैसा कि हम देखते ही हैं, आज यंत्र नित-नूतन, नित्य अधिक जानलेवा हथियारों से ले कर रोमांच की नवीतम सनसनी-लिये खेलों तक व्याप्त हैं; नित नई सुविधाओं में तो व्याप्त होते चलते ही हैं।

लग सकता है कि विज्ञान में जिज्ञासा और उपादेयता के आयाम परस्पर भिन्न हैं - हमारा कोई भी गहरा से गहरा पुरुषार्थ-साधता कौशल निरी उपादेयता में ढाला जा सकता है - भाषा का वही कौशल जो कविता की विशुद्ध संवेदना के काम आता है, वही विज्ञापन को चटपटा-लुभाना बनाने के लिये उपादेय होता है। एक सीमा तक विज्ञान के लिये भी यह बात ठीक है, पर यह भी हमें नहीं भूलना चाहिये कि विज्ञान की *धाक* उसकी उपादेयता से ही है, और तभी विज्ञान को अपनी यात्रा की सामग्री मुहैया होती रहती है - विज्ञान जैसे जैसे बढ़ता है, प्रयोग की प्रक्रिया महंगी से महंगी होती चली जाती है; इस प्रक्रिया की उपादेयता न रहे तो केवल ज्ञान के नाम पर इसको इतने यजमान नहीं मिलेंगे जितने कि इससे लाभ उठानेवाले प्रश्रयदाता मिलते रहे हैं। यह ठीक है कि विज्ञान की सम्यक्-ज्ञान के रूप में भी महिमा है, और यजमान उस महिमा का भी कायल होता है (हमारी समूची संस्कृति उस की कायल है), पर ज्ञान के तो और भी मार्ग हैं - कला और विचार ये हम में प्रयोगशाला के बिना भी प्रकृति का जो विराट् रूप जगा सकते हैं उसे ज्ञान कहने में संकोच

नहीं होना चाहिये। विज्ञान आज जितना महंगा होता जा रहा है, वह अगर केवल ज्ञान क ही मार्ग होता तो इसके खर्च का बोझ उठानेवाले कम होते चले जाते।

पर विज्ञान को अगर हम ज्ञान और व्यवहारगत उपादेयता दोनों के उपाय के रूप में देखें तो यह भी दिखता है कि औचित्य-विचार के भी दो अलग क्षेत्र यहां सामने आते हैं विज्ञान जहां ज्ञान का उपाय है वहां उपाय और उपेय (ज्ञान) की सम्यक् - ज्ञानोचित - संगति बन रही है या नहीं, इसको वह अपनी जिज्ञासा की यात्रा में तोलता-परखता चलत है। विज्ञान प्रकृति का - या यों कहें कि प्रकृति के कुछ चुने-हुए पक्षों का - लक्षण बनात चलता है। उसकी यह लक्षण-निर्मिति जटिल होती है। वह विचार के ऊह (विचार की व्याख्यामयी कल्पना या उत्प्रेक्षा कहिये), इस का गणित से संश्लेष करता हुआ प्रकृति-व्यापार का एक लक्षण सुझाता है, और फिर लक्षण-परीक्षा के लिये प्रयोगशाला की शरण लेता है, जहां फिर उपाय-कल्पना के साथ समुचित यंत्रों का निर्माण करता हुआ, यंत्र के कार्य-कारण कौशल से प्रकृति के व्यापार-विशेष की अनुवृत्ति साधता है। बार बार साधत है - क्योंकि प्रयोग निर्दोष और लक्ष्योचित बना कि नहीं, वैज्ञानिक को यह समस्या सद सताती रहती है। फिर प्रयोग की सफलता-असफलता को जाँचने की बारी आती है गणित-गर्भ व्याख्या की संगति प्रयोग पर खरी उतर रही है या नहीं, इसकी भी बार बा जाँच करनी होती है।

थोड़ा पास से देखें तो प्रयोग और व्याख्या में एक परस्पर-भाव उभरता है, जहां कभ प्रयोग पहले आता है कभी व्याख्या। यह स्वाभाविक भी है। विज्ञान का सूत्रपात ही प्रकृति के प्रत्यक्ष व्यापारों के लक्षण-विचार से हुआ है। प्रयोग का एक बड़ा काम हमारे सहज इन्द्रिय-बोध में उभरते हुए स्थूल प्रत्यक्ष को नियत, निर्भ्रांत, परिनिष्ठित रूप में बांध क देखना है, ताकि एक ही व्यापार को बार बार यों का यों देखा-परखा जा सके। इसके लिये प्रयोग प्रत्यक्ष के अंग-प्रत्यंग में, उसके सूक्ष्म नख-शिख में उतरने की साधना करता है और फिर लक्षण-परीक्षा के रास्ते इस साधना को बढ़ाता चलता है। पर विज्ञान लक्षण-विचार में ही नहीं उलझा रहता, लक्ष्य में - प्रकृति में - क्या हो रहा है इसकी टोह-टटोल में भी निरंतर अनुयुक्त रहता है। यह अनुसंधान प्रयोग की अपनी स्वतन्त्र परंपरा को भी जन्म देता है जो प्रकृति के नये व्यापार सामने लाती रहती है। व्याख्याकार फिर इनकी लक्षण-व्याख्या करते हैं जो कि फिर नये उपाय-कौशल से नये प्रयोग की मांग करती है (आज विज्ञान में प्रयोक्ता और लक्षण-कर्त्ता का भेद प्रतिष्ठित सा है, कुछ कुछ वैसा ही जैसा नृत्त में आचार्य और नर्तक का होता है)। यों विज्ञान का लक्षण और प्रयोग, प्रयोग और लक्षण इनका एक परस्पर-भाव चक्र की तरह घूमता हुआ आगे बढ़ता है।

इस चक्र को ध्यान में रखते हुए एक और बात अवधेय है : अगर यह ज्ञान का चक्र है तो प्रमाकरण का भी चक्र है - लक्ष्य-लक्षण संवाद को प्रयोग में प्रमाणित किया जाता है पर चूंकि यह *चक्र* है, इसलिए इसमें कभी प्रमा ज्ञान के अंतिम, ध्रुव, *निर्णय*-ज्ञान की स्थिति बन ही नहीं सकती - प्रमाण-*यात्रा* ही बनी रह सकती है, जिसमें पुरानी ज्ञा

कहलानेवाली स्थिति, असंपूर्ण ज्ञान की स्थिति ही नहीं, अज्ञान की स्थिति भी ठहरती रह सकती है। लक्ष्य और लक्षण दोनों चंचल बने रहते हैं, और प्रमा-ज्ञान संभावना ही होता है। यों भी विज्ञान में लक्ष्य को आँकने के लिये जो लक्षण किये जाते हैं, वे सचमुच लक्षण कहलाने के योग्य हैं या नहीं इसका निकष ही यह है कि क्या वह लक्षण प्रयोग में अप्रमाणित किया जा सकता है या नहीं? विज्ञान में ज्ञान की प्रयोग-निर्भर और सतत चक्रवत् प्रक्रिया को देखते हुए दूसरा कोई निकष बन भी नहीं सकता। किसी प्रकृतिगत व्यापार को अगर प्रयोग द्वारा ही सत्य या असत्य ठहराना हो तो, कहना न होगा, कि फिर लक्षण ऐसा होना चाहिये जिसे प्रयोग-प्रक्रिया में उतारा जा सके। और ऐसा हो तो लक्षण तभी ठीक लक्षण कहला सकेगा जब उसे प्रयोग मिथ्या ठहरा सके। जो लक्षण मिथ्या ठहराया ही नहीं जा सकता उसके लिये प्रयोग की बात ही वृथा है। जहां *मिथ्या ठहराया जा सकना* लक्षण के ही औचित्य का लक्षण हो वहां किसी अंतिम सत्य या प्रमा-ज्ञान की बात करना साफ ही बेमानी है।

यह भी हम देख आये हैं कि विज्ञान में लक्षण से लक्ष्य की संगति का औचित्य-विचार कई परस्पर भिन्न पक्षों को एक साथ बटोरता-समेटता चलता है - उसके असंगत हो सकने के कई निग्रहस्थान हैं : क्योंकि प्रक्रिया बहुसूत्री है : एक ओर ऊह या व्याख्या की युक्तता के अपने निकष हैं, जिसमें कुछ पूर्वग्रह भी समाये रहते हैं; फिर गणित है, प्रयोग है - सबके अपने अपने अलग संगति और औचित्य के निकष हैं। फिर सबका सुषम संगम बना या नहीं यह एक समग्र विमर्श का अविरत प्रश्न होता है। ज्ञान-यात्रा औचित्य की कई नावों में एक साथ पाँव रखती आगे बढ़ती है।

वास्तव में तो व्यवहार की भूमि पर अपनी सफलता का प्रदर्शन कर पाना ही विज्ञान के लिये प्रमा-ज्ञान की जगह लेता है - इसका यांत्रिक जादू ही इसका प्रमाण है, वही हमारे सिर पर चढ़ कर बोलता है। और इस काम में विज्ञान की *निर्मितियां* ज़रूर कार्य-कारण को आधार बनाती हैं।

पर दूसरी ओर विज्ञान की उपादेयता इसे ज्ञान से निकाल कर सीधे कर्म के क्षेत्र में ले आती है। अब, कहना न होगा कि कर्म का अपना अलग औचित्य-विचार है, जहां ज्ञान के रूप में विज्ञान की संगतियों का कोई दखल नहीं। विज्ञान चमत्कारी उपकरण बना सकता है - पर उनके *उपयोग* के औचित्य के बारे में मूक ही रहता है : क्योंकि कर्म के औचित्य-विचार में उसका ज्ञान पंगु है।

अपने आप में विज्ञान चरिष्णु जिज्ञासा की एक अनूठी यात्रा है जिसका उपेय ज्ञान की किसी भी गंभीर जिज्ञासा की तरह एक दिगंत ही बना रहता है। विज्ञान की यात्रा में कई भिन्न उपायों का और उनके उपेयानुकूल कौशल का, और साथ ही सबके परस्पर-संवाद को साधने की दृष्टि का पदे पदे काम पड़ता है। ज्ञान के जिन भिन्न साधनों का विज्ञान में संगम साधा जाता है उनमें विचार की आँख को तो परस्पर-वैषम्य ही दिखाई देता है : गणित,

ऊह और प्रयोगशाला का विशिष्ट यंत्र-साध्य परिवेश, इन सबकी अपनी अपनी संगतियां हैं - या व्याप्तियां कहिये - जिनके बीच कोई सर्वतोग्राही व्याप्ति - या महाव्याप्ति कहिये - वह विचार में तो उभरती नहीं दीखती। तभी विज्ञान का व्यवहार-साफल्य - उसकी *उपादेयता* - ही हमारे लिये विज्ञान और जगत् के बीच व्याप्ति को नींव देती है। इस व्याप्ति को हम अपनी जगत्-प्रवृत्ति और प्रवृत्ति के जगत् के बीच निविष्ट एक अटूट से संबंध के रूप में देखें तो बात अनहोनी नहीं लगनी चाहिंये। इस व्याप्ति का बीज जीव मात्र की जिजीविषा के अगाध में निविष्ट जगत्-बोध में निहित जान पड़ता है। तभी व्यवहार ही हमें इसके *ज्ञान* होने के प्रति आश्वस्त करता है।

अंततोगत्वा, विज्ञान की यात्रा हमारे लिये एक निराली, गुत्थिल, पर रोमांचक, *उपाय-यात्रा* है। इस *यात्रा* के मर्म को समझना हो तो बात कार्य-कारण की नहीं प्रतिभा की करनी चाहिये जो इस यात्रा की सच्ची सारथि है। प्रतिभा कभी कार्य-कारण में नहीं सिमट सकती। विज्ञान की यात्रा में कोई सार्थकता है तो वह यह नहीं कि यह जगत् की कार्य-कारण-निष्ठता सिद्ध करती है बल्कि यह कि यह जिज्ञासा का एक अद्भुत प्रयास है जो कार्य-कारण को *उपाय* बनाता है (कार्य-कारण को विश्व-ब्रह्माण्ड के स्वरूप-ज्ञान का उपेय बना पाना वैसे भी संभव नहीं जान पड़ता)।

मैंने जिसे विधि का नाम दिया है अपनी प्रेरणा के लिये विज्ञान की यात्रा उसी ओर खुलती है, चाहे विषय जड़-प्रपंच को बनाती हो और उसे कार्य-कारण में ढाल कर देखना चाहती हो। यह ठीक है कि विज्ञान की एक नियत सी पद्धति या प्रणाली बन गई है, जिसके नियम सीखे-सिखाये जाते हैं। वहां विज्ञान कार्य-कारण को अपनी जिज्ञासा-पद्धति और जगत्-बोध के ऊह का एक आधारगत अंग बनाता है। पर कला की तरह - नृत्त की तरह - नियम यहां भी नियम के परे के संकेत में बसे होते हैं, जिनका ग्रहण नियम-चेतना से ऊपर उठ कर ही किया जाता है।

जहां तक उपाय के रूप में कार्य-कारण की बात है, हम ऊपर देख चुके हैं कि कार्य-कारण को विज्ञान की निर्मितियां ही नहीं, कला की निर्मितियां भी काम में लेती हैं। वहां भी कार्य-कारण उपाय का अंग बनता है। पर उपेय वहां कुछ और ही होता है।

नृत्त पर फिर से आइये।

यहां, इस प्रस्तुत लेख के आरंभ में मैंने कर्म के औचित्य (या उपेय) -धर्म - के बारे में कालिदास के शब्दों में कहा था कि धर्म का आदि - या भित्तिगत - साधन शरीर है। इस कथन में औचित्य-बोध के साथ *कर्मेन्द्रियों* के संबंध की बात ऊह्य है - हालांकि कालिदास इस ऊह्य को ऊह्य ही रहने देते हैं। पर मैंने जानबूझ कर यहां कर्मेन्द्रियों को युक्तियों के साथ उतारने की चेष्टा की है, क्योंकि कर्म का कर्मत्व कर्मेन्द्रियों से बनता है, चाहे वह ज्ञानेन्द्रियों की भी अपेक्षा रखता हो।

इतना तो हम पर प्रकट ही रहता है कि हमारी इन्द्रियां हमारे देह, प्राण और चित्त को पूर्वगृहीत मान कर व्यापृत होती हैं। पर हमारा चित्त आत्मचेतन होता हुआ अपने आप में

चेतना के कई और पक्ष, और उनमें कई और सोपान समोये रहता है। हमारे औचित्य-बोध का तार भी इन से जुड़ता है। इसकी ओर मैं आत्मचेतना के सोपानों की और औचित्य-बोध से उनके संबंधों की पिछली चर्चाओं में इंगित कर चुका हूं।

मैंने नृत्त के बारे में भी कहा था कि धर्म की तरह नृत्त के लिये भी कह सकते हैं कि, शरीरम् आद्यं खलु नृत्तसाधनम्। नृत्त का औचित्य-बोध कर्म से बहुत अलग है, पर साधन के रूप में शरीर का महत्त्व वहां धर्म से कम नहीं, अधिक ही है। नृत्त शरीर को ही अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाता है। कर्मेन्द्रियों को काम में लेता हुआ शरीर की विविध-वैभवमयी भंगिमाओं को रूप देता है नृत्त। कर्मेन्द्रियों के बिना शरीर की कल्पना नहीं की जा सकती और शरीर के बिना नृत्त की। कर्म में शरीर और कर्मेन्द्रयां केवल *आद्य* मात्र हैं, ये कर्मभूमि में हमें ला खड़ा करती हैं, कुछ कर पाने को धरती देती हैं, पर कर्म में शरीर परोक्ष भी हो जाता है - हम दूसरों के माध्यम से और दूसरों के *साथ* काम करते हैं (और हम न अपने आप को न अन्य को यहां *शरीर* में अपचित कर सकते हैं)। हम भाषा को कर्म का माध्यम बनाते हैं, जिसके स्वरूप को हम जैसे भी समझें, उसे शरीर या किसी भी अर्थ में शरीर का सजातीय तो नहीं ही कह सकते; पर भाषा के बिना जैसे ज्ञान की कल्पना नहीं कर सकते वैसे ही कर्म की भी नहीं कर सकते। हम यंत्र के भी माध्यम से कर्म करते हैं; और भी दूसरे माध्यमों की कल्पना की जा सकती है : बिना भाषा या इन्द्रिय-प्रयोग के भी किसी को प्रेरित करने या वस्तु-जगत् में कुछ कर पाने के दृष्टांत मिलते ही हैं। पर नृत्त में शरीर नाभि नहीं तो नेमि अवश्य है - उसके बिना नृत्त की गति नहीं। नृत्त *उतरता* ही शरीर में है। शरीर वहां *परोक्ष* नहीं हो सकता। उल्टे हम कह सकते हैं कि हमारे लिये नृत्त शरीर को अपने वैभव में साक्षात् करने का एक पंथ है - हम नाचते हैं तो शरीर ही नाचता है। कहना न होगा कि हमारा नृत्त-बोध शरीर-सार नहीं है, हमारा कुछ भी शरीर-सार नहीं है - पर नृत्त में चेतना का अंतःप्रज्ञ रूप जिस शरीर-सार स्पंद और व्यंजना के साथ आविर्भूत होता है हमारी और किसी अभिव्यक्ति में नहीं होता। किसी भी कर्म या कला की तरह नृत्त में भी अंतः-बाह्य की अर्थमयी डोर बँधती है, पर नृत्त में भीतर की डोर सीधे शरीर से जुड़ती है - दूसरी कलाओं में शरीर दूसरे बाह्य-निष्ठ कर्मों की तरह ही साधन होता है, पर नृत्त में उसका स्थान केन्द्रिय है।

मैंने ऊपर की चर्चाओं में विधि की धारणा को जिस रूप में खड़ा करने की चेष्टा की है उसे, मैं समझता हूं, नृत्त में साकार करना अपेक्षया सुगम है। हम हाथ भी उठाते हैं तो अपनी कर्मेन्द्रिय में भीतर और बाहर के सेतु का सहज अनुभव कर पाते हैं। पर नृत्त में शरीर के साथ-साथ हम अपनी गहरी से गहरी प्रज्ञा का भी सीधा संबंध अनुभव करते हैं। इस लेख के आरंभ में नृत्त से इच्छा - या शायद अधिक अनेकजन-सम्मत शब्दों में *काम-वासना* या वासना मात्र - के संबंध की चर्चा कर आया हूं। इसे नृत्त का *उद्दीपन* पक्ष कह सकते हैं। यह पक्ष अपनी अपनी तरह से सभी कलाओं में होता है - उदाहरण अनावश्यक हैं। हां, नाचने के बारे में एक बात ऊपर से कही जा सकती है : नाचने में [illegible] न नाच

देखनेवाले के साथ ही नहीं, खुद नाचनेवाले के साथ भी जुड़ा हो सकता है। यहां भी उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं - पशु में भी हम नाच का यह रूप देख सकते हैं; मोर को ही ले लीजिये।

पर इस से यही सिद्ध होता है कि नृत्त में शरीर की हमारे मन से सीधी डोर है। इस से यह नहीं सिद्ध होता कि डोर की पहुँच मन और मन के कामना-संकल्प तक ही सीमित है। डोर अंतर में और गहरे उतरती है - प्रज्ञा के अगाध तक उतरने की संभावना रखती है। तभी ऊपर मेंने शिव के नृत्त का उल्लेख किया। नृत्त में हम वासना का ही नहीं वासना से कहीं उदात्त, चेतना के स्वातन्त्र्य में जागते भाव-बोधों को भी शरीर में साक्षात् रूप लेते देख सकते हैं। इस रास्ते शरीर की डोर को सीधे प्रज्ञा तक जाते देख सकते हैं। किसी भी विदग्ध नृत्त-परंपरा में इस संबंध को मुद्रित देखा जा सकता है - साक्षात् नहीं तो उसकी व्यंजना की संभावनाओं में। कला में *विदग्धता* जागरूक आत्मचेतन व्यापार होती है - सौंदर्य-बोध, सधे हुए विवेक या औचित्य-बोध में स्थित होती है और अपने इस सधे हुए विवेक को रूप देने के उपाय तराशती है - यों यह स्वरूप से ही ऐसी व्यंजना साधती है जो वासना या उद्दीपन-मात्र का प्रकाश नहीं होता। पर कला में आत्मचेतना स्फुट ही ऐसा उन्मेष भी पालती है - या उसकी ओर उन्मुख रहती है, जो अपने से ऊर्ध्वतर प्रतिभा या प्रज्ञा के संकेतों के अनुरणन भी अनुभव कर पाता है। उसे अनायास रूप भी दे पाती है। ऐसे प्रकाश को ही मैंने विधि कहा है, जिसमें एक सहज अपूर्वता भी घर करती है।

पर प्रश्न फिर भी होगा कि नृत्त का कर्म से क्या संबंध?

नृत्त यहां रूपक ही हो सकता है। पर रूपक भी आपको बेमेल, अनहोना लगे, इसलिये यह भी यहां जोड़ देना चाहता हूं कि मानव-कर्म के ही एक महत् चिन्तक ने नृत्त में कर्म का एक गहरा रूपक देखा है। चिन्तक थे कन्फ्यूशियस, जिन्हें चीन की संस्कृति के प्राज्ञतम चिन्तकों और संस्थापकों में गिना जाता है। कन्फ्यूशियस मानव-कर्म को समष्टि-कर्म के रूप में देखते हुए, व्यक्तियों के सहज, सुष्ठु, सुषम और समरस परस्पर-व्यवहार में इसका समुचित आदर्श देखते थे। उन्होंने समूह-नृत्य के सामंजस्य में इसका दृष्टांत देखा। मानव-कर्म के अंतः और बाह्य की हम ऊपर चर्चा कर आये हैं। कन्फ्यूशियस की धारणा थी कि मानव-संबंधों का गहरा परस्पर-भाव व्यक्तियों के परस्पर के प्रति समंजस भावनाओं की संगति से बनता है। किसी उदात्त और सौम्य समूह-नृत्य में ऐसे शोभन, शालीन और भाव-बोध के एकसूत्र-में-गुँथी-हुई संगति का ही प्रकाश होता है। कन्फ्यूशियस ऐसे आदर्श नृत्त को संगीत के साथ भी जोड़ते थे। उनकी धारणा थी कि नृत्य भाव-सामरस्य का बाह्य प्रकाश होता है - कर्म के बाहरी व्यवहार या आचरण में उसका रूपायण। पर भावनायें अंतः की गतियां हैं, और यह बाह्य रूपायण यह अपेक्षा रखता है कि हर नर्तक के भीतर भी भाव-साम्य हो - ऐसा जो उसे अन्यों के साथ एक-रस रख सके। कन्फ्यूशियस की दृष्टि में यह काम संगीत का था। कन्फ्यूशियस ने संगीत को मनुष्य का व्यावर्तक लक्षण तक कहा

है। पर आवश्यक था कि संगीत समुचित सामरस्य के योग्य भी हो - *आप्त* हो, *आर्ष* हो। उनकी समझ में प्राचीन काल में ऐसा संगीत होता था, और वे बरसों प्राचीन संगीत के बचे हुए उाहरण ढूंढते और संग्रह करते रहे।

तो कर्म के प्रसंग में नृत्त का रूपक कोई अजूबा नहीं है। हम कन्फ्यूशियस की धारणा पर प्रश्न उठा सकते हैं। पूछ सकते हैं कि क्या रूपक सचमुच उपयुक्त है? यह भी लगता है कि कन्फ्यूशियस इसे लक्षणा में नहीं लेते थे, किसी अर्थ में वास्तव समझते थे, तभी वे प्राचीन संगीत का संग्रह करते रहे। उनकी आर्ष-संगीत और तदनुरूप नृत्य की खोज को हम उस विधि की खोज भी कह सकते हैं जो बुद्धि के परे स्थित किसी अनवद्य चेतना को किसी सिद्ध रूप में अवतरित कर दे - ऐसी *नीति* उपलब्ध करा दे जो नियमों में ढाली जा सके : अनुवृत्ति-साध्य उपाय का पंथ बन सके। मैं नहीं समझता कि विधि को यों साधा जा सकता है - क्योंकि विधि की अपूर्वता को नियत नहीं किया जा सकता। और हम अगर मान भी लें कि कोई सर्वतोभद्र विधि पहले से कहीं बनी-बनाई मिल सकती है, तो भी समस्या वहीं रहती है : उस विधि की कोई यंत्रवत् अनुवृत्ति संभव नहीं, उसे सतत उपाय-कौशल से ही आविर्भूत किया जा सकता है, और कौशल यहां सदा प्रतिभा - या विधि की अपूर्वता का प्यासा रहता है। तो, मैं नहीं समझता कि नृत्त को यहां रूपक से अधिक कुछ कहा जा सकता है। पर इतना तो दिखता ही है कि रूपक में एक सक्षम व्यंजना है जो हमारे विचार को गति दे सकती है।

मैं जो उसे गति देना चाहता हूं, उसका संबंध मेरे मूल प्रश्न से है। मैंने कर्म और औचित्य, इन शब्दों को एक व्यापक अर्थ में लेते हुए चेतना की हर प्रवृत्ति को कर्म कहा और उसके अपने औचित्य की बात की; और इसी परिप्रेक्ष्य में उस कर्म की व्यावृत्ति का प्रश्न उठाया जिसे हम साधारण अर्थ में कर्म कहते हैं। उत्तर के कई इंगित मैं समझता हूं कि अब तक की चर्चाओं में आ गये हैं। मैंने कर्म-क्षेत्र या कर्म-भूमि की बात की है जो कर्मेन्द्रियों के माध्यम से भीतर को बाहर घर देती है, और कह सकते हैं कि बाहर को अंतः के औचित्य में ढालने का एक *आद्य* उपाय बनती है। पर स्पष्ट है कि इतने से ही कर्म की बात नहीं बनती - चाहे शुरु की जा सके। अंतः-बाह्य संबंध तो हमारी कई प्रवृत्तियों में बनता है - कला को लीजिये, या हमने अभी विज्ञान को जैसे लिया, उसे ही लीजिये। ऐसे अंतः-बाह्य संबंधों में अपनी अपनी तरह से औचित्य-बोध ही बाहर रूपायित होता है, जो अपनी उपाय-चेतना के परे जागती प्रतिभा का सदा प्रार्थी रहता है।

यही मन में रखते हुए मैंने नृत्त को कर्म का रूपक बनाना चाहा था। यहां मैं कन्फ्यूशियस के नृत्त रूपक को इसलिये सामने रख रहा हूं क्योंकि मुझे लगता है कि कन्फ्यूशियस की नृत्त-धारणा में कर्म का विधि-संबंध तो व्यंजित होता ही है पर साथ ही कर्म के क्षेत्र की व्यापकता भी उभर कर आगे आती है जहां कर्म संपूर्ण मानव-समष्टि समेटे है। कन्फ्यूशियस की कर्म-जिज्ञासा में व्यक्ति-अनैक्य, व्यक्तियों की परस्परता, और परस्परता के औ य

का प्रश्न - ये विशेष तीखेपन से उजागर दिखते हैं। कन्फ्यूशियस मनुष्य के उस लोक की बात करते हैं जिसे हम मनुष्य के व्यवहार का लोक कहते हैं।

पर यहां अन्य की बात उठती है और दर्शन में *अन्य का होना* ही एक टेढ़े प्रश्न की कोटि में रखा गया है। यहां मैं अन्य की सिद्धि के सवाल में नहीं जाऊंगा, इसे आगे के लिये मुल्तवी रखता हूं। कहने को हम कह सकते हैं हम सहज ही व्यवहार-जीवी हैं, और व्यवहार अन्य के बिना नहीं होता। पर इसमें चक्रक दोष होगा; और यों भी इसमें हमारे लिये अन्य का अर्थ क्या, यह कुछ भी स्फुट नहीं होगा। अभी कन्फ्यूशियस के हवाले से हमने कर्म-क्षेत्र में परस्पर-भाव के औचित्य की बात की। परस्पर-भाव अगर कई अन्यों के बीच होता है तो यह *अन्य* कैसे? मैं भी तो इन्हीं *अन्यों* में होता हूं, अन्य के लिये अन्य! स्पष्ट ही अन्य की धारणा कुछ विस्तार से विचार चाहती है। पर इस विचार में यहां नहीं जाऊंगा।

हमने ऊपर नृत्त में ही नहीं, विज्ञान के संदर्भ में भी व्यवहार-लोक की नींव-तुल्य स्थिति की बात की थी। व्यवहार-लोक को हम मनुष्य की रहनी का आधार-लोक भी कह सकते हैं। यह लोक मनुष्य को बनाता है, मनुष्य से बनता भी है। हमारी लोकैषणा और हमारा औचित्यबोध दोनों इसी में रूप लेते हैं और गति पाते हैं। पुरानी शब्दावलि में कहें तो कह सकते हैं कि यह काम-अर्थ-धर्म की भूमि है, जहां तीनों एक-दूसरे से अनुविद्ध-अनुस्यूत होते हैं - धर्म-अर्थ-काम की त्रिवेणी बनती है यहां। मानव-कर्म के संदर्भ में *धर्म* की - कर्म के *औचित्य* की - यहां विशेष गरिमा है। काम (कामना - बल्कि कामनाओं का व्यूह) और अर्थ (सुसंचालित, व्यवस्थित-प्रबंधित समष्टि), इन का युगल तो पशु-जगत् की समष्टियों में भी पाया जाता है -चींटियों को देखिये, मधुमक्खियों को, दीमकों को। पर धर्म की बात मनुष्य में ही उठती है। अर्थ-काम का धर्म से गुँथा रहना, यही मनुष्य के व्यवहार को पशु-भिन्न, 'मानव'-व्यवहार बनाता है - स्वातन्त्र्य और स्वातन्त्र्य में निहित औचित्य-बोध में उसे जागृत रखता है (कन्फ्यूशियस ने अपनी धर्म की धारणा को ही व्यक्त करने के लिये मिलजुल कर *साधे गये* नृत्त की बात की थी)।

'काम' शब्द के तात्पर्य को इस संदर्भ में प्रायः इच्छा विशेष से जोड़ दिया जाता है - जैसा कि *काम*-शास्त्र में हम पाते ही हैं, पर धर्म-अर्थ-काम इस त्रिपुटी का संदर्भ बताता है कि काम का अर्थ यहां व्यापक है। उसका मनुष्य की समूची जिजीविषा से सम्बन्ध है - चेतना की प्रवृत्ति मात्र से। या यों कहें कि हमारी भिन्न प्रवृत्तियों के मूल में जो ईहा या अभीप्सा - या एषणा (या इनका व्यूह) - हमें व्यवहार से बाँधे रखती है वह 'काम' है। काम शब्द के 'काम-वासना' इस अर्थ को हम काम के व्यापक अर्थ से जोड़ना चाहें तो व्यवहार में गार्हस्थ्य की महिमा की ओर ध्यान दे सकते हैं। कुछ कुछ इसी तात्पर्य से हमारे यहां यह कहा गया है कि गार्हस्थ्य व्यवहार का मूल है, अन्य प्रवृत्तियों को नींव देता है। लोक को, लोक-व्यवहार को नींव देता हुआ निवृत्ति को भी नींव देता है, क्योंकि संन्यास

गार्हस्थ्य का उपजीवी है। यों काम मनुष्य का जीवार्थ है - एक अर्थ में प्राणी-मात्र-साधारण। काम को 'पुरुषार्थ' कह कर उसे मनुष्य से विशेषित कर देना तभी कुछ अर्थ रख सकता है जब काम को इस रूप में देखें कि यह मानव की लोकैषणा को बनाये रखते हुए उसके औचित्य-बोध की ऊर्ध्वतर प्रवृत्तियों को घर देता है। उनके लिये द्वार बनता है। लक्षणीय है कि मनुष्य की एषणा का 'स्व' भी अन्य को स्व में ही घर देता हुआ मनुष्य का अपना पशु-भिन्न आत्मचेतन, औचित्य-चेतन स्व होता है जो चेतना की अपनी स्वतन्त्र यायावरी के उन्मेष की ओर भी उन्मुख रहता है।

धर्म-अर्थ-काम में 'अर्थ' शब्द का इंगित उस व्यवस्था या तन्त्र की ओर है जो एषणा-पूर्ति का साधन-लोक बनता है। अर्थ भी प्राणी मात्र में देखा जा सकता है। जिजीविषा के साथ जिजीविषा की पूर्ति की साधन-व्यवस्था प्राणी मात्र में रूप लेती ही है। पर मनुष्य-भिन्न जीवों में मानो पूरी की पूरी पूर्व-सिद्ध या प्रदत्त सी होती है। जीव उस प्रदत्त या 'सिद्ध' व्यवस्था के मानो अंग होते हैं - वह व्यवस्था ही मानो उन्हें रूप देती है। मनुष्य के साथ भी ऐसा होता ही है - हम पशुओं में पशु हैं ही, पशुओं में अपना अनुरणन पाते हैं - संस्कार के, रूढ़ि के जीव भी होते ही हैं। पर हम व्यवस्था से सधते ही नहीं, उसे साधते भी हैं, अपने प्रयत्न से उसका अन्यथाकरण करते हैं - तभी अर्थ को 'पुरुषार्थ' कहा गया है। लेकिन मनुष्य की अर्थ-व्यवस्था भी मनुष्य की एषणा की तरह चेतना के ऊर्ध्वतर स्पन्दनों को घर देती है। उन परम्पराओं को, संस्थाओं को, साधनाओं को घर देती है जो ज्ञान, भाव, कर्म की विधियों को समो सकती हैं। तभी हम मनुष्य की व्यवस्था को प्रकृति-भिन्न संस्कृति, सभ्यता जैसे नाम देते हैं। धर्म-काम-अर्थ की शब्दावली में कहें तो अर्थ के साथ धर्म का होना औचित्य-साधना की ऐसी यात्रा - या यात्राओं - का भी संकेत वहन करता है जो व्यवहार मात्र की व्यवस्था के, उसके योग-क्षेम के औचित्य तक सीमित नहीं। मनुष्य की अर्थ-व्यवस्था को विशेषकर राज्य-व्यवस्था से जोड़ा जाता है क्योंकि राज्य-व्यवस्था अन्य व्यवस्थाओं के ऊपर की व्यवस्था है - या कहिये कि अन्य व्यवस्थाओं को *घर-देती* व्यवस्था है। तभी प्राचीन 'अर्थ-शास्त्र' में उसी की चर्चा प्रधान है - वहां राज्य और राज्य-व्यवस्था को ही 'अर्थ' से जोड़ा गया है। पर सच पूछें तो मनुष्य की सारी रहनी को ही हम 'अर्थ' के साथ जोड़ सकते हैं, क्योंकि व्यवस्था का स्थान व्यापक होता है। और राजधर्म का यह भी धर्म होता है कि वह मनुष्य की ऊर्ध्वतर साधनाओं का भी धारण करे।

साधारण अनुभव में हम 'काम' को अपना घनिष्ठ पाते हैं, व्यवस्था को नहीं। साध्य भी हम काम को ही समझते हैं, व्यवस्था तो जैसे सिद्ध-प्रदत्त होती है हमारे लिये। वैसे ही जैसे बाहर का संसार। पर व्यवस्था की साध्यता को भी हम सहज ही देख सकते हैं। व्यवस्था की साध्यता मनुष्य के परस्पर-निष्ठ स्वभाव में ही निहित है। जहां दो मनुष्य साथ होंगे, कोई व्यवस्था रूप लेगी। रूप ही नहीं लेगी, उसका रूप *साध्य* भी होगा। तीन अर्थों में एक तो व्यवस्था खड़ी करनी पड़ेगी। फिर, व्यवस्था बनाये रखनी पड़ेगी - उसका योग-क्षेम

सँभालते रहना पड़ेगा; साथ ही व्यवस्था का औचित्य-परीक्षण, औचित्य-बोध का बदलाव, व्यवस्था को अन्यथा भी करता रहेगा। पर वास्तव में दो जनों के बीच की व्यवस्था भी एक बृहत्तर व्यवस्था की धरती पर ही होती है। एक चली-आती मानव-व्यवस्था के भीतर ही दो लोग अपनी अलग सी व्यवस्था खड़ी करते हैं, अगर करते भी हैं। दो ही क्यों, कोई अकेला भी अपने लिये एक नियम-संयम-अनुशासन की व्यवस्था बना सकता है। उच्छृंखल या उच्छेद-मुखी वृत्ति भी अगर आत्मचेतन हो तो अपनी सी एक योजना पालती ही है।

जिस व्यवस्था में हम जन्म लेते हैंवह व्यवस्था हमारा व्यवहार-लोक होती है - यह लोक हमारे लिये सिद्ध-प्रदत्त ही होता है। उसी के भीतर हमारा कर्त्तृत्व रूप लेता है, पर रूप लेने के बाद वह किसी अर्थ में व्यवस्था का साधक भी हो जाता है - औचित्य-बोध से प्रेरित आत्मचेतन साधक। हां, इस औचित्य-बोध में और इसे साध पाने की क्षमता और परिधि में तारतम्य देखा जा ही सकता है। जिस व्यवहार-व्यवस्था में हम जन्म लेते हैं, उसकी रूढ़ि - या गतानुगतिकता - हम में अनायास काम करती हुई व्यवस्था को ही नहीं, हमें - हमारे औचित्य-बोध को भी - मर्यादा देती है। दो या अधिक व्यक्तियों के रूप में आम तौर पर जब हम अपनी व्यवस्था साधते हैं तो उस मर्यादा के भीतर ही अपना ढाई ईंट का घर बनाते हैं - प्रेमियों को, मित्रों को, आदर्श या पुरुषार्थ-साधकों को, यहां तक कि विशिष्ट परिवारों को भी ऐसा करते देखा जा ही सकता है। हालांकि धर्म-सूत्रों में,स्मृतियों में और अलग अलग मज़हबों के अपने अपने आगमों में गार्हस्थ्य-धर्म को औचित्य की *एक* मर्यादा में ढालने की महती चेष्टा है जो महत् रूप से सफल भी होती है। फिर भी हर बड़ी समष्टि में छोटे-बड़े समूह-समुदाय होते हैं जो अपनी विशिष्टता साधते हैं; इसके लिये संघर्ष भी करते हैं। फिर भी जिस समाज-कानून-राज्य-व्यवस्था में हम होते हैं उसको किसी अनुच्छिन्न रूप में बनाये रखना, उसके योग-क्षेम को सँभाले रखना, इसमें भी हमारा किसी न किसी तारतम्य से योगदान होता है। हमारी व्यवस्था ही हमारे स्वातन्त्र्य को घर देती है। और चूंकि स्वातन्त्र्य को घर देती है इसलिये अपने औचित्य-बोध से इसे अन्यथा करना भी हमारा कर्त्तव्य होता है - चाहे वह इसके *सच्चे मर्म* को बचाने के लिये ही क्यों न हो। चाहे अपनी करनी में हम कितने ही बँधे हों या अक्षम हों, विचार में तो हमें लगता है कि यह हमारा एक दायित्व है। व्यवस्था को औचित्य-बोध के साथ अन्यथा करने के काम में या कल्पना में उन्मेष का स्थान बड़ा होता है। अर्थ-काम-धर्म की त्रिपुटी में धर्म उस औचित्य की धारणा है जो इस समूचे व्यापार में व्यापृत होती है।

पर धर्म का पहला संबंध आत्मचेतना से है जिसका आधार व्यष्टि-चेतना होती है, या यों कहिये कि किसी 'स्व' की चेतना - व्यवस्था नहीं। व्यवस्था की *आत्मचेतना* की बात नहीं की जा सकती। हां, मनुष्य की व्यवस्था में भी हम एक प्रयोजनमय अवयवी का बोध पाते हैं, और इस आधार पर व्यवस्थाओं के स्वरूप में ही नहीं, स्वभाव में भी भेद करते हैं;

उनके स्वभाव की बात करते हैं, जिसे संस्कृति कहते हैं। पर संस्कृतियां साध्य होती हैं और रखरखाव चाहती हैं, पर बदलती भी हैं - तभी हम संस्कृतियों के इति-अथ की बात कर सकते हैं, उनका इतिहास आँक सकते हैं; उनमें किसी परिप्रेक्ष्य से भेद ही नहीं, तारतम्य, ऊँच-नीच भी देख सकते हैं। मनुष्य का आत्मचेतन द्रष्टा-भाव में एक निहित सामान्य-बोध या साधारणी-करण होता है। वही मनुष्य के औचित्य-बोध को भी घर देता है। तभी हम मानव-मात्र को विचार का विषय बना सकते हैं। एक संस्कृति में रहते-पलते हुए भी उसके अन्यथा होने की कल्पना - और आदर्श - पाल सकते हैं; साध सकते हैं। हम संस्कृति की अनेक संभावनाओं का ऊह कर सकते हैं और यही कारण है कि हम भिन्न संस्कृतियों को आँक-परख भी सकते हैं। पर यों अपनी संस्कृति का ही नहीं - संस्कृति मात्र का द्रष्टा हो पाना एक और भी इंगित समोता जान पड़ता है : यह कि हम किसी भी संस्कृति विशेष के परे *संस्कृति-त्व* का बोध पालते हैं - कि संस्कृति का मर्म क्या? - या क्या होना चाहिये? यहां *है* और *होना चाहिये* में कोई तात्त्विक भेद नहीं है क्योंकि जिसे हम मर्म कह सकते हैं वह स्वरूप से ही है और होना चाहिये का युगनद्ध रखता है। यह बोध आत्मचेतना के परे किसी प्रज्ञा की ओर भी उँगली उठाता है। कन्फ्यूशियस का नृत्त-रूपक ऐसी प्रज्ञा का एक गंभीर प्रकाश है। मनुष्य एक परस्पर-भाव में पलता है - तभी वह संस्कृति को जन्म देता है। पर वह व्यक्ति भी होता है और व्यक्ति के रूप में स्वतन्त्र भी। उसका आदर्श परस्पर-भाव ऐसा होना चाहिये जहां वह स्वातन्त्र्य को संगी बनाता हुआ बना रहे। इसी बात को यों कह सकते हैं कि मनुष्य के परस्पर-भाव में एक *स्वाच्छन्द्य* होना चाहिये - व्यक्ति इच्छा-मात्र को (अपनी स्वैर प्रवृत्ति को) अपना सारथि न बनने दे, बल्कि विवेक को घर देता हुआ अन्य के स्वातन्त्र्य के साथ एक सहज और ऊर्ध्वतर छंद में अंतरंग भाव के साथ गुँथे।

व्यष्टि और समष्टि के भेद को ध्यान में रखें तो धर्म के साथ काम और अर्थ के संबंध में एक वैषम्य उभरता है : काम का संबंध व्यष्टि से होता है जब कि अर्थ का समष्टि से। लोकैषणा का आधार व्यष्टि ही होता है, पर जिस व्यवस्था में लोकैषणा घर करती है, पूरी होने की ओर बढ़ती रहती है, वह समष्टि को ही आधार बनाती है। यों तो मनुष्य में - और एक अर्थ में प्राणी मात्र में - व्यष्टि और समष्टि परस्पर गुँथे होते हैं, पर मनुष्य में आत्मचेतना व्यष्टि को ही घर बनाती है। आत्मचेतना का स्वातन्त्र्य और औचित्यबोध व्यष्टि को ही अपना पात्र बनाता है, समष्टि को नहीं। धर्म की दृष्टि से समष्टि व्यष्टियों के ही भीतर 'चेतन' होती है। व्यष्टि समष्टि से अलग अपना स्वातन्त्र्य रखता है - पर साथ ही समष्टि से अविनाभाव भी रखता है। तभी परस्पर-भाव के होने की ही नहीं, उसे किसी सार्थक रूप में *बनाये रखने* की बात उठती है। धर्म इसीका आदर्श साधता है। कन्फ्यूशियस का आदर्श धर्म का ही आदर्श है।

पर मानव-समष्टियों में व्यष्टियों के बीच अधिकार के तारतम्य का - सत्ता या प्रभुत्व का भी एक परस्पर-भाव में ही निविष्ट भेद होता है। सीधे शब्दों में इसे राजा और प्रजा का

भेद कह सकते हैं, जो कि समाज की हर सीढ़ी पर व्याप्त होता है। राजधर्म के बिना धर्म नहीं होता और दण्ड के बिना राजधर्म नहीं होता। दण्ड - या कहें कि प्रभुत्व मात्र - स्पष्ट ही परस्पर-भाव का कंटक है। पर राजधर्म के बिना मनुष्य की समष्टि भी अकल्पनीय है। परस्पर-भाव का कोई भी खरा आदर्श राजधर्म की उपेक्षा नहीं कर सकता - राजधर्म को समोते हुए. दण्ड-प्रभुत्व का कंटक-शोधन करते हुए ही परस्पर-भाव के किसी भाव-मय नृत्त की कल्पना की जा सकती है। कन्फ्यूशियस ने अपने नृत्त-धर्म का *उपदेश* विशेषकर राजा और राजपुरुषों को ध्यान में रख कर दिया था। उनके परस्पर-भाव में सत्ता का तारतम्य शामिल है - उनके सह-नृत्त का मंच इकसार-समतल नहीं है, उसमें अधिकार के, सत्ता के भूमि-भेद हैं : स्वामी-स्त्री और पिता-पुत्र से उठता हुआ यह अधिकार-तारतम्य का शिखर राजा तक पहुँचता है। एक गहरे अर्थ में राजा ही नृत्त का सूत्रधार है। या यों कहना अधिक युक्त होगा कि सूत्रधारत्व यहां राजधर्म की इतिकर्त्तव्यता में रहता है - चाहे बात व्यष्टि के रूप में *राजा* के प्रति सम्बोधित क्यों न हो। यह तो कन्फ्यूशियस के समय का चलन था। कन्फ्यूशियस का आदर्श यह है कि समाज के ऊंच-नीच के सोपान पर जो जहां है, वहीं अपनी ठीक जगह सँभालता हुआ नृत्त की सर्वांग मुद्रा को रूप देता रहे - राजा, राजपुरुष, प्रजा सब एक समरस सूत्र में समुल्लसित हों। बात को वैदिक रूपक में ढालते हुए यों देख सकते हैं: ब्राह्मण (सिर) क्षत्रिय (हाथ) , वैश्य (उदर), शूद्र (पाँव), समाज-शरीर के ये अलग अलग अंग ऊंच-नीच में - आभिजात्य-सत्ता-सम्पन्नता में - अलग हैं, पर इनकी रहनी में नृत्त जैसा एकरस-भाव हो तो सब मिल कर सौष्ठव की *एक* मुद्रा बनायेंगे - जहां विरोध, संघर्ष की कोई बात ही नहीं होगी। सब सुखी भी होंगे।

पर मनुष्य में व्यष्टि के बिना समष्टि की बात नहीं की जा सकती। पुरुषार्थ के सभी क्षेत्रों में व्यष्टि की महिमा स्पष्ट है। नृत्त में भी। नृत्त की प्रतिभा भी व्यष्टि में ही घर करती है। नृत्त का रूपक अगर समूह-नृत्त को आदर्श बनाये तो भी नृत्त के योजनाकार और सूत्रधार की भूमिका अन्य-विलक्षण होती है। और नर्तकों में प्रतिभा-भेद भी स्वाभाविक होता है। नृत्त व्यष्टि को ही केन्द्र बना कर उन्मेष साध सकता है। पर कन्फ्यूशयिस ने समष्टि को ध्यान में रख कर ही अपना रूपक बाँधा है। वे व्यष्टि-धर्मों और पुरुषार्थों को मानो समष्टि में अपचित कर देते हैं। उनका नृत्त का रूपक बड़ा पते का, बड़ा अर्थमय रूपक है। पर वे हर व्यष्टि को एक सुसंगत अवयव की तरह नृत्त के अवयवी में एक निर्धारित-नियोजित स्थान पर कस देना चाहते हैं। पर अवयव-अवयवी की ही बात करें तो व्यष्टि को भी हम अपने आप में एक स्वतन्त्र अवयवी के रूप में आँक सकते हैं। हालांकि व्यष्टि हो या समष्टि, इन्हें किसी सिद्ध - किसी सधे-सधाये - रूप में अवयवी कहना भ्रान्त ही है : दोनों सदा साध्य ही रहते हैं।

कन्फ्यूशियस के इस रूपक के साथ समस्या व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की उठती है - आत्मचेतना का जहां अधिष्ठान है। नृत्त का रूपक सत्ता की कँटीली अनी को हटाता नहीं, छुपाता जान पड़ता है। नृत्त किसका है? *कौन* है जो नाच रहा है? नृत्त नाचनेवाले का नहीं,

नचानेवाले का ही बन पड़ता है। समूह का नृत्त नचानेवाले पर ही निर्भर करता है। यह सही है कि *नाच* में हर नाचनेवाले की भागीदारी स्वेच्छा से, स्वरस से, स्वाच्छन्द्य से, होती है, पर समाज में सचमुच ऐसा हो तो सत्ता की आवश्यकता ही क्या? फिर तो ऊँच-नीच की भी बात न रहे, एक सहज परस्पर-भाव का राज हो, जैसा कि हमारे यहां सतयुग की कल्पना में है। पर कन्फ्यूशियस का नृत्त सत्ता को ही ध्यान में रख कर कल्पित है। उनके लिये सत्ता समष्टि की नींव है। राजा समष्टि-नृत्त का सूत्रधार है। समाज के हर 'नाचनेवाले' का अपना स्वातन्त्र्य नचानेवाले के सूत्र की परिधि से, नियत मर्यादा से, बँधा है। हां, नचानेवाले का यह भी दायित्व होता है कि हर नर्तक में नाच के निभाव की स्वेच्छा जगाये, नहीं तो नाच नाच ही नहीं होगा, पर निदान को बात नियन्त्रण की ही ठहरती लगती है : जो *नचा* रहा है, दारोमदार उसी पर है। नृत्त का यह प्रतिमान राजधर्म का यह आदर्श है कि राजसत्ता ऐसे औचित्य से प्रजा का धारण करे कि हर व्यष्टि, हर समुदाय, समूह, संस्था, एक संपूर्ण राष्ट्र का समंजस अंग बने। और ऐसा दण्ड-प्रयोग के साथ केवल ऊपर या बाहर से ही नहीं करे, हर एक के भीतर भी समन्वय की सरस-समरस लौ जगाये। सत्ता क्रूर न हो, प्रजा-*रंजन* करे (तभी जीवन कवायद नहीं, नाच होगा)। सत्ता-संचालन में यह प्रतिभा हो कि संपूर्ण राष्ट्र-मानस में ऐसी रास-भावना जगा सके कि सबकी लय एक सर्व-समावेशी ताल में ढली हो। सबका अपना अंग-विक्षेप एक सर्वमय अंगहार में घुलता रहे।

पर संशय जागे बिना नहीं रह सकता। ऐसा समाज तो चींटियों का भी होता है, मधुमक्खियों का भी। बड़ा समंजस समूह-नृत्त होता है वहां; बिना किसी नियन्त्रण के होता है! समष्टि के रूप में मनुष्य का तो पहला आदर्श यह बनता लगता है कि वह व्यष्टि को केन्द्र में रखे - संस्कार-शिक्षा के रास्ते उसमें स्वातन्त्र्य की लौ जगाये, उसे बढ़ाये, उसे भूमा देने का प्रयास हो। परस्पर-भाव का औचित्यबोध - दायित्व - स्वातन्त्र्य *के साथ* जागे, उसे दबाये नहीं। समष्टि में सामरस्य हो पर ऐसे व्यष्टियों का हो। यह आदर्श पुराणों के सतयुग के आदर्श के अधिक निकट है। सत्ता या प्रभुत्व के दण्ड और नियन्त्रण का *अभाव* उस सामरस्य की पहली शर्त है।

पर सत्ताहीन समाज कल्पना की बात ही हो सकती है। फिर एक बात और है जो उस कल्पना को भी संदिग्ध बना देती है। स्वातन्त्र्य वैविध्य पालता है। भेद ही नहीं विरोध में पला वैविध्य। सचमुच स्वतन्त्र व्यष्टियों का समूह नृत्त का अंगहार बनाता दिखता ही नहीं। इसके लिये व्यष्टि-व्यष्टि में जैसा अभेद अपेक्षित है स्वातन्त्र्य उसके आड़े ही आता जान पड़ता है। ऐसा नहीं है कि मनुष्य में परस्पर-भाव नहीं होता है, *समष्टि*-जीवी है मनुष्य - किसी परस्पर-भाव की बुनावट में बुने समूह के भीतर ही व्यष्टि की आत्मचेतना जागती है। पर मनुष्य के समूह का परस्पर-भाव नृत्त जैसी किसी उत्प्रेक्षा में समाता नहीं दिखता।

कन्फ्यूशियस स्वाच्छन्द्य का सपना देखते हैं, पर उनका समष्टि-नृत्त, नियम और नियन्त्रण की अपेक्षा रखता दिखता है। पर नृत्त के मर्म में दूसरी कलाओं की तरह नियम से ऊपर उठने की गति होनी चाहिये। कन्फ्यूशियस के नृत्त में इस गति का कोई स्थान नहीं है।

इस गति का उन्मेष, मैं समझता हूं, व्यष्टि में ही रूप ले सकता है। नृत्त स्वप्रतिष्ठ होना चाहता है - नियम, नियन्त्रण से मुक्त हो कर स्वप्रतिभ होना चाहता है।

फिर एक बात और है। कन्फ्यूशियस व्यवहार को सुषम, श्री-मय तो साधना चाहता है पर इससे अधिक कुछ नहीं - ज्ञान, भाव, अध्यात्म, इन पुरुषार्थों के लिये वे आँगन नहीं छोड़ते। जिस नृत्त की वे बात करते हैं वह ऐसे व्यष्टियों के समाहार का संयोजन है जहां हर व्यष्टि अपने 'स्व' में, अपनी लोकैषणा में - या यों कहें कि अपने *व्यवहार*-आत्म में - एक सुखी जीवन की चाह है, इससे आगे कुछ नहीं। वे नृत्त को एक-दूसरे के प्रति जिस सामंजस्य-भावना का साधन बनाना चाहते हैं वह नृत्त की अपनी संभावनाओं की भी अनदेखी है। । यह ठीक है कि नृत्त का भावनाओं से संबंध है - यह भी ठीक है कि नृत्त भावनाओं में एक गुँथाव साधता है, और उसे बाहर शरीर की चेष्टाओं में ला साकार करता है। पर उसका वैभव स्वभाव से ही विविध है, और यह वैविध्य व्यष्टि में ही रूप ले सकता है - समष्टि में भी व्यष्टि-स्रष्टा के माध्यम से ही रूप लेता है - और कई भिन्न रूप ले सकता है। व्यष्टि के साथ नृत्त का संबंध अटपटा सा ही होता है। व्यष्टि का स्व उसे बनाता नहीं, उसे घर देता है। पर 'घर देना' भी एक साधना है, जो साधना आत्मचेतन व्यष्टि ही कर सकता है। नर्तक की साधना, नाचने के गतानुगतिक रूप, नियम, ये किसी अ-नियम के द्वार बनते हैं, तभी नृत्त बनता है। अपने औचित्य-तन्त्र के बहुरूप वैभव में घर करता है। ऊपर की शब्दावली में कहें तो, नियम यहां स्पष्ट ही विधि-मुखी होते हैं। विधि को ही अवकाश देने के मार्ग, या उपाय होते हैं।

पर उपेय के रूप में नृत्त क्या है? आत्मचेतना के स्वातन्त्र्य और औचित्य-बोध की ही एक वृत्ति है, जो नृत्त में स्वतः *आकार* लेती है, स्वातन्त्र्य को पारतन्त्र्य में अनायास घर देना चाहती है, उसे शरीर तक लाती है। इस वृत्ति के लिये उपेय शब्द का प्रयोग भी विसंगत जान् पड़ सकता है।

स्वातन्त्र्य की वृत्ति इसी अर्थ में उपेय कहला सकती है कि उसमें एक *उपेयता* है, ऐसा कुछ नहीं जिसे निर्धारित उपेय जैसा कुछ कहा जा सके।

इतना कुछ कहने के बाद भी, यह मान लेने के बाद भी, नृत्त में कर्म का प्रतिमान बनने की एक विशेष समर्थ व्यंजना है। फिर भी प्रश्न रह जाता है कि *मैं* किस अर्थ में नृत्त को कर्म का रूपक या प्रतिमान बनाना चाहता हूं। इसकी चर्चा आगे करूंगा।

क्रमशः

साहित्य और समाज*

यशदेव शल्य

जब साहित्य और समाज के सम्बन्ध की बात की जाती है तब इन दोनों को ही अपरिभाषित छोड़ दिया जाता है और प्रायः ही 'सामाजिक यथार्थ' की बात की जाती है, जिसे साहित्य को प्रतिबिम्बित करना चाहिए, 'सामाजिक दायित्व' की बात की जाती है, जिसका साहित्यकार को निर्वाह करना चाहिए। साहित्यकार के समाज के प्रति कर्त्तव्य विषयक यह चर्चा मार्क्सवाद के प्रचार-प्रसार के साथ आरंभ हुई थी और उसके अनुसार 'सामाजिक याथार्थ्य' का अर्थ 'वर्ग-संघर्ष' तय हुआ था। साधारण बातचीत में 'समाज' का अर्थ 'मनुष्य-समुदाय' मान लिया जाता है, हाथियों या हरिणों के झुंड या समुदाय की तरह। ये झुंड एक तरह के स्वार्थों के आधार पर बने देखे जाते हैं और वर्ग दूसरे प्रकार के स्वार्थों के आधार पर बने उपझुंड, जिनमें स्वार्थ-विरोध के कारण संघर्ष होता है। किन्तु मानव-समाज की यह समझ ठीक नहीं है। स्वार्थ के आधार पर बने ये झुंड भी अनेक-रूप दिखायी देते हैं, जिस अनेक-रूपता का मूल चेतना में ही होना चाहिए। उदाहरणतः मानवेतर जीवों में एक ओर शेर और चील-गीध आदि जैसे जीव हैं, जिनमें सामुदायिकता उनके घोंसले में पल रहे बच्चों और पालने वाले जनक-जननी तक सीमित रहती है और दूसरी ओर मधुमक्खियों और चींटियों की सामुदायिकता है जिसमें छत्ता और बांबी जैव देह जैसे होते हैं जिसमें व्यष्टियों का स्थान जैवकोशों जैसा होता है।

सामाजिकता के सम्बन्ध में सबसे आधारभूत बात यह है कि मनुष्य की चेतना विशेषपरक नहीं होकर सामान्यपरक होती है, जो इस बात से देखा जा सकता है कि मनुष्य भाषा-भाषी प्राणी है और भाषा मूलतः सामान्यवाची होती है, विशेषवाची नहीं। यहां तक कि इसमें व्यक्तिवाचक संज्ञाएं तक सर्वनामों की स्थानापन्न होती हैं और सर्वनामों में 'मैं' पद 'वह' और 'तू' से प्रतिवर्तनीय होता है। अन्य के द्वारा अपने लिए 'मैं' के और मेरे लिए 'तू' के प्रयोग को हम सहज ही ठीक प्रयोग समझते हैं। इतना ही नहीं, हमारा वस्तु-ग्रहण तक सर्वसामान्यात्मक होता है—सामने पड़े घट को हम सर्वग्राह्य विषय के रूप में ही देखते हैं, यहां तक कि अपने द्वारा देखी गई वस्तु या घटना के अन्यों से प्रमाणित नहीं होने पर हम अपने प्रत्यक्ष को अप्रामाणिक—भ्रान्त—स्वीकार करने को भी तैयार रहते हैं। चेतना का यह

---

*. इलाहाबाद संग्रहालय में 'साहित्य और समाज' विषयक गोष्ठी के समापन सत्र (30.4.04) के अध्यक्ष पद से दिया गया व्याख्यान।

गुण मनुष्य को व्यष्टि से व्यक्ति बनाता है जिसकी 'विशिष्टता' उसकी 'सामान्यता' की समानुपाती होती है। सामान्यता में न्यून व्यक्ति वैशिष्ट्य में भी उतना ही न्यून होता है–अपने आपसे अपरिचित और विखंडित। बुद्ध की चेतना जीव मात्र पर व्यापक थी और गांधी की मनुष्यमात्र पर, इसीसे दोनों व्यक्तित्व में सर्वाधिक आत्मप्रतिष्ठ थे। मानव-समाज के स्वरूप को समझने के लिए यह एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य है, किन्तु यहां हम इसकी व्याख्या के विस्तार में नहीं जाकर इसकी ओर संकेतमात्र करेंगे।[†] इसके सम्बन्ध में यहां केवल इतना कहना ही आवश्यक है कि समाज कोई व्यक्ति-समूह की संज्ञा नहीं है और न व्यक्ति जैविक देह की संज्ञा है। किन्तु समाज के सम्बन्ध में साधारण धारणा यही है कि यह मानव-तन-धारियों की समष्टि है। यदि इस बात को तात्कालिक रूप से स्वीकार कर भी लें तो यह ध्यातव्य होगा कि ये तन-धारी केवल समूहित नहीं होते, ये विभिन्न नैतिक सम्बन्धों की व्यवस्था में समूहित होते हैं। यह सम्बन्ध-व्यवस्था उस समूह की मानसिकता की व्यंजक होती है, जो मानसिकता अपने को उस समूह के काव्य, दर्शन, धर्म, आस्था, विश्वास, उचितानुचित और सदसद्-विवेक आदि में व्यक्त करती है। इस मानसिकता को संस्कृति कहा जाता है। कोई मानव-समूह इस संस्कृति से ही समाज बनता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार ध्वनियां अर्थों की व्यंजक होकर ही भाषा बनती हैं। अब, यदि यह स्वीकार कर लिया जाय तो साहित्य और समाज दो पृथक् वस्तुएं या सत्ताएं नहीं होकर अंग और अंगी ही ठहरती हैं। इस पर प्रतिवाद किया जा सकता है कि तब क्या साहित्यकार के सामाजिक दायित्व की, साहित्य के सामाजिक याथार्थ्य के प्रतिबिंब होने की बात का कोई अर्थ नहीं है? इसका उत्तर है कि एक अर्थ में ये वाक्य निरर्थक ही हैं, किन्तु एक दूसरे अर्थ में ये निरर्थक नहीं भी हैं। ये उस अर्थ में निरर्थक हैं जिस अर्थ में इनको साधारणतः समझा जाता है। ऊपर के विवेचन में यही दिखाया गया है। किन्तु ये इस अर्थ में सार्थक हैं कि मनुष्य की चेतना आत्मचेतन होती है और उसमें सदसद्-विवेक की सहज प्रवृत्ति होती है, चाहे सद् और असद् की ठीक पहचान सहज नहीं होती। यह विवेक वह अपने कर्मों में भी करता है और दूसरों के कर्मों में भी। आत्मचेतना चेतना का आत्म-प्रतिबिंबन ही है और सदसद्-विवेक मनुष्य के व्यक्ति रूप में अपने प्रति और सामाजिक रूप में समाज के प्रति दायित्व-बोध उत्पन्न करता है। उसकी इस प्रवृत्ति के कारण सभी सामाजिक सम्बन्ध उसके इस विवेक से अन्तर्निविष्ट रहते हैं और सभी सामाजिक और वैयक्तिक व्यापार सद् या असद् के रूप में मूल्यांकित होते हैं। हमारे प्राचीन साहित्यशास्त्र में नायक का धीरोदात्त होना एक नियम था, जिसमें यही दृष्टि थी। किन्तु नायक के अतिरिक्त अन्य पात्र सभी प्रकार के होते थे। आज नायक के भी धीरोदात्त होने का कोई नियम नहीं है। काव्य का मूल नियम यही है कि पात्रों का चरित्र आत्म-संगत हो और उनकी चित्तवृत्तियों का निरूपण गहन और

---

†. इसकी विस्तृत व्याख्या के लिए द्रष्टव्य हमारी पुस्तक–**समाज : दार्शनिक परिशीलन** (जयपुर) अ. 1

मार्मिक, अथवा कहें प्रामाणिक हो। ये चित्तवृत्तियां स्वतः ही सदसद् रूप में मूल्यांकित होती चलती हैं, क्योंकि मनुष्य में चित्तवृत्तियों के ये स्वरूपगत गुण होते हैं। यदि लेखक और पाठक के इन वृत्तियों के मूल्यांकन में विरोध होता है तो पाठक उस कृति को अस्वीकार कर देता है। किन्तु साहित्य का कार्य किसी सामाजिक कर्त्तव्य को लक्षित करना नहीं होता कि समाज में धर्म-अर्थ-काम की अभिवृद्धि हो, क्योंकि साहित्य स्वयं सामाजिक अभ्युदय का एक अंग या आयाम है। वह अपने अस्तित्व में ही एक सांस्कृतिक व्यापार है और इस व्यापार के सम्यक् सम्पन्न होने में ही इसका औचित्य है। यह दर्शन और संगीत से अधिक सरलता से समझा जा सकता है। दर्शन का कार्य तत्त्व-विवेचन है, जो समाज के व्यावहारिक स्तर से पूर्णतः विच्छिन्न होता है। कोई दार्शनिक समाज के लौकिक अभ्युदय की सापेक्षता में या उसमें व्याप्त अन्यायों या कुरीतियों के प्रसंग में विचार नहीं करता। यही बात संगीत के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। संगीतकार रागों की रचना या उनका गायन सामाजिक अन्याय से लड़ने के लिए नहीं करता। किन्तु इनकी यह तथाकथित समाज-निरपेक्षता, निर्धनों की रोजी-रोटी के प्रश्न से बेखबरी इन्हें असामाजिक नहीं बनाती। दर्शन और संगीत उतने ही, या उससे बड़ी सामाजिक उपलब्धियां माने जाते हैं जितनी रोजी-रोटी की व्यवस्था और सामाजिक अन्याय के निवारण के प्रयत्न आदि माने जाते हैं। निश्चय ही साहित्यकार समाज में अन्याय-अत्याचार से उद्विग्न होकर उसे अपनी साहित्यिक रचना का विषय भी बना सकता है, किन्तु ऐसा वह साहित्यिकता की शर्त पर ही कर सकता है। साहित्यिकता की शर्त यह है कि उसकी यह उद्विग्नता सच्ची होनी चाहिए और वह भावनात्मक विमर्श के स्तर पर उन्नीत होनी चाहिए। किन्तु काव्य का विषय कौन सी उद्विग्नता हो, काव्य के सामाजिक मूल्य के लिए यह पूर्णतः अवान्तर बात है। क्योंकि काव्य अपने आपमें समाज के आत्म-सर्जन का एक रूप होता है, उसे अपने अस्तित्व के औचित्य के लिए किसी और प्रमाण की अपेक्षा नहीं होती।

काव्य की प्रामाणिकता भावना के आत्म-विमर्श की प्रामाणिकता : भावना की सच्चाई और गहराई और कवि की उसके विमर्शात्मक अवगाहन की सफलता : में होती है। इस भावना की अन्तर्वस्तु आशा-निराशा, संसार-मोक्ष, मिलन-विरह, वर्ग-संघर्ष या ईश्वर-भक्ति कुछ भी हो सकती है। उदाहरणार्थ यहां जयशंकर प्रसाद की प्रसिद्ध कविता 'ले चल मुझे भुलावा देकर, मेरे नाविक धीरे-धीरे' ली जा सकती है। प्रसाद नाविक से वहां ले जाने को कहते हैं जहां नितान्त निर्जन है, जहां सागर-लहरी अंबर के कानों में गहरी प्रेम-कथा कहती है। प्रगतिवादी आलोचकों ने इसकी 'पलायनवादी' कहकर प्रताड़ना की थी। काव्यात्मकता की और सामाजिकता की समझ के अभाव, बल्कि कहें विपर्यास के इससे बड़े उदाहरण की कल्पना कठिन होगी। यों तो इसमें संसार से पलायन की कोई बात नहीं है, किन्तु यदि हो भी तो भी इसमें काव्य-दृष्टि से और इस प्रकार सामाजिक मूल्य-दृष्टि से कोई दोष है, यह कहना केवल दृष्टि-हीनता का ही द्योतक होगा। यदि थोड़ा ध्यान से

देखें तो मनुष्य की मूल्य-दृष्टि ने मनुष्य का उत्कर्ष संसार से बाहर, बल्कि कहें संसा विमुखता में ही देखा है। बौद्ध धर्म का अपूर्व विस्तार इसका एक उदाहरण है। सिद्धार्थ संबोधि संसार से 'पलायन' से ही सिद्ध हुई थी और समाज ने इसे इसी रूप में देखा था इसमें मनुष्य का परम उत्कर्ष माना था। भारतीय समाज ने सामान्य रूप से ही मनुष्य परम पुरुषार्थ मोक्ष को माना था। ऐसे में यह कहना कि सामाजिकता वर्ग-संघर्ष को उकस में ही है, मजदूरों के पक्ष में खड़ा होने में ही सबसे बड़ा पुरुषार्थ है और कवि को इसी वैतालिक होना चाहिए, इससे बड़ा दृष्टि-विपर्यास दूसरा कोई नहीं हो सकता। स्वयं का मार्क्स की उत्कृष्टता उसके संसार-भाव या समाज-भाव में नहीं है बल्कि मज़दूरों की दुर्द देखकर उपजे क्षोभ, उस क्षोभ की गहराई और सच्चाई, उस दुर्दशा का उपचार खोजने अपना पूरा जीवन झोंक देने और दृष्टि की तत्त्व-ग्राहिता में है। इसमें और बुद्ध की दृष्टि एक अनुरूपता भी देखी जा सकती है—दोनों मनुष्य के दुःख से उद्विग्न हैं, एक आर्थिक परिस्थिति-जन्य दुःख से और दूसरा जीव के मौलिक अविद्या-जन्य दुःख से। इनमें बुद्ध दृष्टि को पलायनवादी या समाज-विमुख भी कहा जा सकता है। किन्तु यहां द्रष्टव्य है विशाल मनुष्य-समुदाय ने 'संसार से इस पलायन' में ही, इस संसार-विमुखता में ही मनु का पुरुषार्थ, मनुष्य का वास्तविक सुख देखा था। कार्ल मार्क्स की भी व्यक्तिगत उत्कृष्ट 'मनुष्य के दृष्टि-दोष से उपजे मनुष्य के दुःख' के निवारण के लिए उसके त्याग और तपस में ही देखी जाती है, उसके संसार-भाव में नहीं। यहां आपत्ति की जा सकती है कि ब संसारोन्मुखता की नहीं कही जा रही है बल्कि समाजोन्मुखता की कही जा रही है। कवि अपेक्षा यह है कि वह सामाजिक अन्याय, सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध लड़ेगा। बु संसार-भाव से विमुख थे, समाज-भाव से नहीं। यह ठीक हो सकता है यदि इसमें 'समा के अर्थ की समझ ठीक हो तो। मनुष्य-समाज निर्वाण की साधना को परमोच्च साध देखने वाली दृष्टि का भी समावेशी है, जिस प्रकार वह गार्हस्थ्य, वाणिज्य, राज्य, पौरोहि आदि का समावेशी है। ये सब मिलकर समाज बनते हैं। सामाजिक इन गार्हस्थ्य आदि में रहते हैं और इन्हीं में आत्म-लाभ देखते हैं। किन्तु अपना परम पर्येष्य निर्वाण को ही दे हैं। इस पर्येषणा को समाजातिक्रमण की पर्येषणा भी कह सकते हैं। यह अतिक्रांति उ प्रकार सामाजिक अस्तित्व के बाहर किन्तु उससे जुड़ी हुई होती है जिस प्रकार गन्त गमन-क्रिया से बाहर और उससे जुड़ा हुआ होता है। अधिकांश सामाजिक वाणिज्य अ परक समाज में रहते हैं किन्तु बुद्ध की पूजा करते हैं और कुछ बुद्ध का अनुसरण भी क हैं। बुद्ध इस सामाजिकता से विमुख नहीं हैं किन्तु उस सामाजिकता को करुणा का विषय मानते हैं जो गार्हस्थ्य, वाणिज्य आदि में आत्मपर्याप्तता देखती है।

काव्य मनुष्य के मनोमय कोश के अर्थों के विमर्श से परिभाषित होता है। यह क भावनाओं, उद्विग्नताओं आदि से परिभाषित होता है। भावनाओं-उद्विग्नताओं का वि कुछ भी हो सकता है—समाज में व्याप्त अन्याय-अत्याचार भी और अपनी विरह-वेदना

मिर्ज़ा ग़ालिब ने अंग्रेज़ी आक्रमण के सामने मुगलों की बेबसी की ताड़ना में शे'र नहीं लिखे तो इससे वे अनुत्तरदायी या पलायनवादी शायर नहीं हो गये। उन्हें यदि कोई अनुत्तरदायी कहे भी तो भी इससे उनके काव्य की श्रेष्ठता को कोई कम करके नहीं देख सकता। *इसके विपरीत, उनके काव्य की श्रेष्ठता को उनके समाज की जीवन्तता के प्रमाण के रूप में भी प्रस्तुत किया जा सकता है और कहा जा सकता है कि सामाजिक चेतना के अनेक आयाम होते हैं, एक आयाम में जर्जरित दिखने वाला समाज दूसरे आयाम में जीवन्त भी हो सकता है।* अन्तिम ज़ार कालीन रूसी समाज ने टाल्स्टाय, दोस्तोयोवस्की, चैखव और गोर्की जैसे उपन्यासकार-कहानीकार उत्पन्न किये थे, यह उस समाज की अद्भुत जीवन्तता का प्रमाण है। बाबर-अकबर के काल का भारतीय भक्ति-काव्य सैनिक रूप से पराजित समाज की सांस्कृतिक रूप से अपराजेयता का ही उद्घोष है, यथार्थ का सामना नहीं कर सकने वाले कायर समाज की आत्म-वंचना का नहीं। वर्धमान चग़ेज़खां के अर्थ में वीर नहीं होकर भी महावीर थे और अपने समाज के परम शौर्य के प्रतीक थे। यहां एक शे'र का स्मरण स्थाने होगा–

चंद तस्वीरे बुतां, चंद हसीनों के ख़तूत
बाद मरने के मेरे घर से यह सामां निकला।

इस शे'र में समाज-विमुखता या असामाजिकता की पराकाष्ठा देखी जा सकती है, किन्तु समाज स्वयं इसे ऐसा नहीं देखता। वह इसमें ऐसे मूल्य का चरितार्थन देखता है जिसके सामने करोड़ों रुपयों की संपत्ति तुच्छ दिखायी देती है। समाज ने ही राधा-कृष्ण, हीर-रांझा और विरह में शराब पी-पीकर आत्म-दाह करने वाले देवदास को अपने आदर्श के रूप में रचा जबकि ये उस नैतिक व्यवस्था के मूल को ही नकारते हैं जिस पर समाज प्रतिष्ठित है। समाज इनमें अपने नैतिक धरातल से उच्चतर धरातल की नैतिकता का साक्षात्कार करता है, और जैसे वह बुद्धत्व के लिए अपने धारक गार्हस्थ्य धर्म को न्यौच्छावर कर सकता है उसी प्रकार निरपेक्ष प्रेम की पराकाष्ठा पाने के लिए धर्म से मर्यादित काम की नीति को भी न्यौच्छावर कर सकता है। मनुष्य-समाज इस प्रकार के आत्मातिक्रमणों की संभावनाओं के साथ ही समाज होता है।

बौद्ध दर्शन में सारूप्य की अवधारणा

अंबिकादत्त शर्मा

भारतीय दर्शन में प्रत्यक्ष पर विचार करते हुए उसे दो प्रकार के मूल्यों के सन्दर्भ में सम्यक् रूप से समझा जा सकता है। इसमें पहले प्रकार को 'संज्ञानात्मक मूल्य' और दूसरे प्रकार को 'अवधारणात्मक मूल्य' कहा जा सकता है। प्रत्यक्ष को उसका संज्ञानात्मक मूल्य लोकव्यवस्था एवं लोकप्रतीति की अनुरूपता में निरूपित किये जाने से प्राप्त होता है, लेकिन वह अपने अवधारणात्मक मूल्य को एक विशेष प्रकार की तत्त्वमीमांसीय दृष्टि की अनुरूपता में निरूपित करते हुए प्राप्त करता है। अब, भारतीय दर्शनों की प्रमाणमीमांसीय योजना में प्रत्यक्ष को एक आधारभूत प्रमाण माना गया है, क्योंकि वह किसी वस्तु की साक्षात् उपलब्धि का साधन और साथ ही साथ उपलब्धि के प्रत्यक्षेतर साधनों का उपजीव्य होता है। परन्तु ऐसा होने पर भी प्रत्यक्ष की आधारभूत महत्ता को केवल उसके संज्ञानात्मक मूल्य तक सीमित नहीं किया जा सकता। उपजीव्यता[1] के कारणमूलक साधारण अर्थ से भिन्न एवं विशिष्ट इसके आधारभूत महत्त्व का एक बृहत्तर आयाम भी होता है। वह यह कि प्रत्यक्ष ही अपने ऊपर किसी प्रमाण-मीमांसा पर पड़ने वाले सम्पूर्ण तत्त्वमीमांसीय अधिभारों को वहन करता है। प्रत्यक्ष ही वह द्वार है जिसके माध्यम से तत्त्वमीमांसा किसी प्रमाणमीमांसा में अपनी 'विश्वदृष्टि' के साथ संक्रमित होती है। वास्तव में एक विशेष प्रकार की तत्त्वमीमांसीय दृष्टि को आत्मसात् करते हुए ही कोई प्रमाणमीमांसा अपने स्वतन्त्र एवं समानान्तर स्वरूप को विज्ञापित कर पाती है। इस रूप में तत्त्वमीमांसीय अधिभारों को किसी प्रमाणमीमांसा विशेष के प्रति 'नीति निर्देशक तत्त्व' के रूप में समझा जा सकता है। सर्वप्रथम, प्रत्यक्ष ही उपजीव्य प्रमाण होने से तत्त्वमीमांसा से निर्दिष्ट होता है और तत्त्वमीमांसीय निर्दिष्टियों के आलोक में निरूपित होते हुए अपने को अपने संज्ञानात्मक मूल्य के ऊपर अवधारणात्मक मूल्य में स्थापित करता है। इसलिए जब यह कहा जाता है कि प्रत्यक्षपूर्वक ही अन्य प्रमाण फलित होते हैं, तो इसका तात्पर्य यह भी है कि तत्त्वमीमांसीय निर्दिष्टियों के आलोक में स्वयं निरूपित होकर प्रत्यक्ष उन तत्त्वमीमांसीय निर्दिष्टियों को अन्य प्रमाणों तक अग्रसारित करते हुए ही उनका उपजीव्य होता है।

I

साधारण तौर पर प्रत्यक्ष को बड़ा ही सरल एवं शुद्ध प्रमाण माना जाता है। समझा जाता है कि यह इन्द्रियों के माध्यम से प्रदत्त वस्तु को उसी रूप में उपलब्ध कराता है जैसी वह होती है। परन्तु उपर्युक्त रूप में प्रत्यक्ष के अवधारणात्मक महत्त्व (तत्त्वमीमांसीय

निर्दिष्टियों के वाहक रूप में) को स्वीकार कर लेने पर प्रत्यक्ष के सरल एवं शुद्ध स्वरूप क निर्धारण प्रमाणमीमांसीय दृष्टि से उतना सरल एवं शुद्ध नहीं रह जाता। प्रमाणमीमांसा वे वैकल्पिक प्रारूपों के सम्भव होने के कारण उनके मध्य यह निश्चित कर पाना और भं कठिन हो जाता है कि प्रत्यक्ष का कोई सरल और शुद्ध स्वरूप होता भी है अथवा नहीं वास्तव में प्रत्यक्ष का होना जितना निर्विवाद है उतना ही विवादास्पद यह है कि प्रत्यक्ष किसका और कैसे होता है? यदि प्रत्यक्ष की प्रत्यक्षता, अर्थात् सद्यः एवं साक्षात्कारी ज्ञा को, कम से कम प्रत्यक्ष का सरल एवं शुद्ध स्वरूप मान भी लिया जाय तो भं साक्षात्कारित्व की आधारभूमि पर प्रत्यक्ष अपनी बहुविध व्याख्या का विरोध करता हुअ प्रतीत नहीं होता है। वस्तुत: प्रत्यक्ष की यह तथाकथित सरलता एवं शुद्धता ऐन्द्रिक संवेद की एक ऐसी प्रभावाभिनत स्थिति है कि उससे उसके स्वरूप एवं व्याख्या को आसानी स प्रभावित करते हुए प्रत्यक्ष विषयक एक से अधिक अवधारणाओं को निर्मित करने का लाभ लिया जा सकता है। इसी लिए तो विभिन्न दर्शनों के प्रस्थान-भेद से प्रत्यक्ष की भिन्न-भिन्न अवधारणाएँ हुई हैं और तब भी सबके सब प्रत्यक्ष के नितान्त वास्तविक स्वरूप को ह उद्घाटित करने का दावा करते हैं। अवधेय है कि यदि किसी प्रमाणमीमांसा विशेष के अन्तर्गत प्रत्यक्ष पर संशोधनात्मक तरीके से विचार करते हुए उसके सरल एवं शुद्ध स्वरू को उद्घाटित करने का एक नवीन दावा किया जाता है तो ऐसे प्रयासों में भी प्रत्यक्ष को किसी अन्य प्रकार के तत्त्वमीमांसीय अधिभारों से युक्त रूप में निरूपित किये जाने क आग्रह ही अन्तर्निहित होता है। अतएव प्रत्यक्ष की बहुविध व्याख्या की सम्भावना को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि दार्शनिक दृष्टि से प्रत्यक्ष का संज्ञानात्मक मूल्य जितन महत्त्वपूर्ण नहीं होता उससे कहीं अधिक उसका अवधारणात्मक मूल्य होता है। प्रत्यक्ष को ऐसा अवधारणात्मक मूल्य किसी तत्त्वमीमांसीय पूर्वमान्यता की अनुरूपता में निरूपित किये जाने से प्राप्त होता है और वहीं से वह अपने निर्दिष्ट स्वरूप को प्रतिपादित करने के लिए युक्तियों एवं तर्कों को भी आहरित करता है। दो या दो से अधिक दर्शनों के मध्य प्रत्यक्षविषयक जो मतभेद होते हैं उन्हें प्रत्यक्ष के अवधारणात्मक मूल्य के संदर्भ में ह सम्यक् रूप से समझा जा सकता है।

प्रत्यक्षात्मक ज्ञान की त्रिपुटीय संरचना (प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय) में करण एवं विषय उसके दो महत्त्वपूर्ण घटक होते हैं। ज्ञान के स्वरूप और उसकी व्याख्या में बदलाव के प्रति दोनों घटकों की निर्णायक भूमिका होती है। एतदर्थ तत्त्वमीमांसीय निर्दिष्टियों के आलोक मे प्रत्यक्ष अपने को निरूपित करे, इसके लिए इसे अपने करण एवं विषय में परस्पर सामंजस्य स्थापित करते हुए दोनों ही दृष्टियों से अपने को निरूपित करना पड़ता है। यही कारण है कि भारतीय दर्शन में प्रत्यक्षात्मक ज्ञान के करणोपकरण एवं विषय को लेकर रोचक विवादों क एक लम्बा इतिहास देखने को मिलता है। प्रमाणों के लक्षण, संख्या, विषय और फल सम्बन्धी विवाद का मूल भी यही है। इसका एक प्रमुख निहितार्थ यह भी रहा है कि प्रत्यक्ष

के करणात्मक पक्ष की व्याख्या में किसी प्रकार का बदलाव प्रत्यक्ष के स्वरूप को प्रभावित करते हुए उसके विषय पक्ष में भी बदलाव के पूर्वग्रह को न्यूनाधिक रूप से सूचित करता है। दूसरे शब्दों में, प्रत्यक्ष के करणात्मक पक्ष की व्याख्या ही प्रत्यक्ष की उस पात्रता को निर्धारित करती हुई प्रतीत होती है कि निर्दिष्ट प्रत्यक्ष का विषय क्या और कैसा होगा? अब यदि विषय का स्वरूप एक तत्त्वमीमांसीय निर्धारण है तो प्रत्यक्ष के लिए भी यह आवश्यक हो जाता है कि वह तदनुरूप ही अपने को इस तरह निरूपित करे कि प्रत्यक्ष की प्रत्यक्षता और निर्दिष्ट विषय के प्रति उसकी प्रमाणता दोनों ही सुरक्षित रह सकें। प्रत्यक्ष का ऐसा निरूपण इस बात पर आवश्यक रूप से निर्भर करता है कि प्रत्यक्षात्मक ज्ञान के करणोपकरण की प्रस्थिति और भूमिका को किस रूप में स्वीकार किया गया है।

भारतीय दर्शनों के प्रमाणमीमांसीय चिन्तन में प्रत्यक्ष के करणात्मक पक्ष से सम्बन्धित विभिन्न प्रकार के सिद्धान्तों के सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। इनमें इन्द्रियार्थसन्निकर्षवाद (न्याय-वैशेषिक), सामग्रीकारणवाद (जरन्नैयायिक जयन्तभट्ट), ज्ञातृव्यापारवाद (मीमांसक), इन्द्रियवृत्तिवाद (सांख्य-योग), अन्त:करणवृत्तिवाद (अद्वैतवेदान्त) एवं सारूप्यवाद (बौद्ध) इत्यादि प्रमुख हैं। ऐसे ही प्रत्यक्ष के विषय से सम्बन्धित जातिविशिष्ट व्यक्ति, सामान्य-विशेषाश्रय व्यक्ति, महासामान्य ब्रह्म एवं सर्वतोव्यावृत्त स्वलक्षण इत्यादि सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं। इन सभी सिद्धान्तों की यथास्थिति में उनके करणपक्ष एवं विषयपक्ष के मध्य तत्त्वमीमांसीय हस्तक्षेप कुछ मूलभूत अवधारणाओं के माध्यम से प्रसवित होता है। इन्हें ज्ञान की सविषयता, निराकारता और परप्रकाशता तथा ज्ञान की निर्विषयता, साकारता और स्वयंप्रकाशता के रूप में मोटे तौर पर रेखांकित किया जा सकता है। अवधेय है कि उपर्युक्त दोनों वर्गों के सिद्धान्त ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में दो परस्पर विरोधी तत्त्वमीमांसीय दृष्टियों (अपने विकसित रूप में वस्तुवाद और विज्ञानवाद) का प्रतिनिधित्व करते हैं और साथ ही साथ ज्ञान की संरचना और स्वरूप को बहुत गहरे अर्थों में प्रभावित भी करते हैं। प्रस्तुत निबन्ध में इसी परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखते हुए हम 'सारूप्य' की बौद्ध अवधारणा को सन्दर्भ बनाकर प्रत्यक्ष के करण एवं विषय पक्ष के मध्य तत्त्वमीमांसीय हस्तक्षेप को उद्घाटित करने का प्रयास करेंगे।

II

बौद्ध दर्शन में सारूप्य की अवधारणा अनात्मवाद और क्षणभंगवाद की तात्त्विक पृष्ठभूमि में कुछ ऐसी विशिष्टताओं को लेकर विकसित हुई है जिसके चलते भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिन्तन में उसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। सारूप्यवाद को छोड़कर उपर्युक्त रेखांकित सभी सिद्धान्त ज्ञान को किसी न किसी तरह से प्रकाशक मानते हैं। उनकी दृष्टि में ज्ञान और ज्ञेय का सम्बन्ध प्रकाशक और प्रकाश्य का सम्बन्ध है। इसके लिए दृष्टान्त भी प्राय: दीपक और उसके प्रकाश में प्रकाशित होने वाली वस्तुओं का दिया जाता यहाँ अवधेय है कि जब ज्ञान का स्वभाव ही पर का प्रकाशन है तो दूसरे को प्रकाशित । वाले

ज्ञान को भी किसी अन्य से ही प्रकाशित मानना पड़ेगा। तब या तो अनवस्था की स्थिति उत्पन्न होगी अथवा मूल में एक ऐसे तत्त्व को स्वीकार करना पड़ेगा जो स्वयंप्रकाशित हो। तब स्वयंप्रकाशित तत्त्व के द्वारा अन्य का प्रकाशन और अन्य से प्रकाशित होकर किसी अन्य का प्रकाशन एक ही तरह एवं एक ही स्तर के प्रकाशन नहीं कहे जा सकते। इन दोनों प्रकार के प्रकाशनों का अन्तर इस बात में निहित है कि स्वयंप्रकाशित तत्त्व आवश्यक रूप से आत्मचेतन होता है जबकि दूसरे से प्रकाशित होकर दूसरे को प्रकाशित करने वाला तत्त्व चेतन तो हो सकता है लेकिन उसका आत्मचेतन होना आवश्यक नहीं है। वस्तुत: चेतना केवल ज्ञानात्मक ही होती है जो अपने प्रभाव-क्षेत्र में आने वाली वस्तुओं का यथावत् प्रकाशन मात्र करती है। इससे भिन्न आत्मचेतना मात्र ज्ञानात्मक नहीं होकर सृजनात्मक भी होती है और किसी वस्तु को आत्मसात् कर उसे प्रतिभासित करती है। बौद्धों के 'सारूप्यवाद' का उद्गम इसी मूलगामी दृष्टि में है कि ज्ञान, वास्तव में, प्रकाशक नहीं अपितु प्रतिभासक होता है, क्योंकि सभी ज्ञानात्मक स्थितियाँ अपने स्वरूप में ही आत्मचेतन हुआ करती हैं। प्रत्येक चेतना का आत्मचेतन होना अनिवार्य है। (सर्व चित्त-चैत्तानामात्मसंवेदनम्)। किसी विषय का प्रकाशक होना, यह विषय की अपेक्षा होने से विषयाधिशासित दृष्टि है, यहाँ हमें चेतना का महज़ ज्ञानात्मक स्वरूप प्राप्त होता है। परन्तु ज्ञान के आत्मचेतन स्वरूप की यह अपेक्षा है कि वह विषय का प्रतिभासक हो, अर्थात् विषय को अपने आयाम में आत्मसात् कर उसे प्रकाशित करे। अतएव प्रतिभासवाद में वास्तव में, विषयितामूलक दृष्टि से हमें चेतना का न केवल ज्ञानात्मक स्वरूप बल्कि आत्मचेतना का सृजनात्मक स्वरूप भी प्राप्त होता है। इस रूप में अर्थप्रकाशक चेतना और अर्थप्रतिभासक चेतना की अवान्तर निष्पत्ति भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिन्तन की दो आधारभूत दृष्टियों, निराकारज्ञानवाद और साकारज्ञानवाद में होती है, जो ज्ञान के स्वरूप को अपनी-अपनी दृष्टि से व्याख्यायित करते हैं। पुन:, सारूप्यवाद के अतिरिक्त सभी सिद्धान्त ज्ञान के विषय को ज्ञान-क्रिया से स्वतन्त्र स्थापित करने का हर सम्भव प्रयास करते हैं, जिससे कि ज्ञान एक सकर्मक क्रिया बनी रहे। लेकिन बौद्धों का सारूप्य-सिद्धान्त अकेले ही इसका विरोध करता है और अपनी चरम परिणति में ज्ञान के विषय को ज्ञान-क्रिया में ही अन्तर्भुक्त कर देता है जिससे ज्ञान की अपने स्वरूप में ही अवगति बनी रहे और वह अपना ही अतिक्रमण करने के दोष से भी मुक्त रह सके। (सारूप्यस्य स्वतो गति:) 'ज्ञान अपना अतिक्रमण नहीं कर सकता', का अर्थ यह नहीं है कि ज्ञान की व्यवहारसम्मत विषयमूलकता और विषयप्रापकता का उच्छेद हो जाता है। हम आगे देखेंगे कि सारूप्यवाद में यह किस प्रकार सुरक्षित रहता है। अन्त में उपर्युक्त दोनों प्रकार के अभ्युपगमों की एक महत्त्वपूर्ण निष्पत्ति प्रमाण और प्रमाणफल के भेद और अभेद में होती है। सारूप्यवाद प्रमाण और प्रमाणफल में अभेद का समर्थक सिद्धान्त है। इस प्रकार, वास्तव में सारूप्यवाद बौद्ध प्रमाणमीमांसा की एक आधारभूत दृष्टि है जो अपनी सम्पूर्ण निष्पत्तियों के साथ उसे

व्यावर्त्तक स्वरूप प्रदान करती है। अपने विकास-क्रम में सारूप्य के सिद्धान्त की व्याप्ति न्याय-विशेषिक, मीमांसा इत्यादि दर्शनों के साधारण वस्तुवाद के विरोध से लेकर निरालम्बनवादी विज्ञानवाद और उसके विभिन्न प्रारूपों तक देखी जा सकती है। परन्तु सारूप्यवाद का वास्तविक स्वरूप साधारण वस्तुवाद और निरालम्ब विज्ञानवाद के मध्य ही न्यूनाधिक रूप से उभरता है।

बौद्ध साहित्य में सारूप्य की अवधारणा के आरम्भिक सन्दर्भ **कथावत्थु**[2] और **अभिधम्मत्थ साङ्गहो**[3] इत्यादि पालि ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं। लेकिन ज्ञानमीमांसीय महत्त्व की दृष्टि से इसका प्रारम्भिक रूप इन्द्रियों की साकारता (इन्द्रिय-विकार) के रूप में वैभाषिकों की प्रत्यक्ष सम्बन्धी अवधारणा में मिलता है, यद्यपि स्वयूथ्य एवं परयूथ्य के दार्शनिकों द्वारा वैभाषिकों ने प्रत्यक्ष की ज्ञानमीमांसा उस रूप में प्रस्तुत नहीं की है जैसी कि प्रमाणशास्त्र में रुचि रखने वाले अन्य दर्शन करते हैं। वस्तुत: प्रत्यक्ष की एक विशेष अवधारणा वैभाषिकों के द्वारा किये गये धर्म-प्रविचय में अन्तर्निहित है, क्योंकि प्रविचित धर्मों की संज्ञा ही है - अवबोधोपयोगिन: पदार्था:।[4] अवबोधोपयोगी पदार्थों के रूप में धर्मों के प्रविचय के पीछे वैभाषिकों की मूलभूत दृष्टि इस संसार में चेतना की लोक-प्रवृत्ति को समझ कर चेतना की लोक-निवृत्ति के सूत्रों में खोजने की थी। इसीलिए अभिधर्म की व्याख्या 'प्रज्ञाऽमलासानुचराभिधर्म:'[5] अर्थात् 'निर्वाणोन्मुखी धर्म' के रूप में की गई है। चित्त की लोक-प्रवृत्ति अर्थात् विषयोन्मुखता के साथ ही संवेद की प्रक्रिया और उससे सम्बन्धित एक सिद्धान्त का जन्म हो जाता है। संवेद की प्रक्रिया और उसके विभिन्न पहलुओं की जाँच-पड़ताल किये बिना हम चित्त की लोक-प्रवृत्ति को पुंखानुपुंख समझ भी नहीं सकते हैं। वैभाषिकों ने इसके लिए 'ये धम्मा हेतु प्रभवा ... ' इस बुद्ध-वचन को आधार बना कर अवबोधोपयोगी तत्त्वों का प्रविचय, अर्थात् छान-बीन, स्कन्ध, आयतन और धातुओं के रूप में की है। स्कन्ध के अन्तर्गत रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान परिगणित हुए हैं। आयतन के रूप में पंच ज्ञानेन्द्रियों और एक मन तथा तत्तद् इन्द्रियों के रूप-शब्दादि विषयों को सम्मिलित किया गया है। इसी तरह द्वादश आयतनों में षड्विध इन्द्रियविज्ञानों को सम्मिलित कर अष्टादश धातुओं की व्यवस्था की गई है। हमारा जीवन और जगत् इन्हीं धर्मों की एक सुसंहत व्यवस्था है। इस व्यवस्था में धर्मों की ही यथार्थ सत्ता है, धर्म संघात को कल्पित अथवा अविद्या-दृष्टि के रूप में मान्य किया गया है। वस्तुत: संघात-दृष्टि ही वैभाषिक-सम्मत पुद्गलनैरात्म्य-दृष्टि है। प्रत्येक धर्म संस्कृत, अर्थात् हेतु-प्रत्यय से उत्पन्न होने के कारण एक-दूसरे से सर्वथा पृथक्-पृथक्, क्षणिक, स्वलक्षणात्मक, प्रतीत्यसमुत्पन्न एवं अनात्मलक्षण से संयुक्त होते हैं। यहाँ तक कि इन्हें बाह्य एवं आन्तरिक धर्म के रूप में वर्गीकृत नहीं किया जा सकता। धर्मों का बाह्य और आन्तरिक धर्म के रूप में विभाजन एक औपचारिक अभिनिवेश है क्योंकि विज्ञान जिस रूप में एक संस्कृत धर्म है विज्ञान का विषय भी उसी रूप में एक संस्कृत धर्म है। सब धर्म एक-

दूसरे के लिए बाह्य ही हैं और अपनी-अपनी स्वायत्तता का उपभोग करते हुए भाव, लक्षण, अवस्था एवं कारित्र की दृष्टि से क्षणे-क्षणे अध्व-संक्रमण करते रहते हैं, परन्तु द्रव्यात्मक दृष्टि से इनके त्रैकालिक अस्तित्व को मान्य किया गया है।[6] ऐसे पृथक्-पृथक् धर्मों की सुसंहत व्यवस्था प्रतीत्यसमुत्पाद के नियम के अन्तर्गत एक व्यापक निर्मिति है।[7]

वैभाषिक-सम्मत अवबोधोपयोगी धर्मों की उपर्युक्त व्यवस्था में प्रत्यक्ष विषयक प्रमाणमीमांसीय प्रश्न उनकी क्षणिकता के चलते तनिक जटिलता के साथ इस रूप में प्रस्तुत होते हैं कि ज्ञान के क्षणभंगुर घटक ज्ञानोत्पत्ति में किस प्रकार का सहयोग करते हैं? पारमार्थिक रूप में प्रदत्त धर्मों की प्रत्यक्षोपलब्धि कल्पित धर्म-संघात दृष्टि की व्याख्या के लिए आवश्यक है, अन्यथा प्रदत्त और कल्पित का भेद ही समाप्त हो जायेगा। ज्ञानोत्पत्ति के सम्बन्ध में बौद्ध दार्शनिकों की एक सामान्य मान्यता है कि नील-पीत इत्यादि विज्ञानों की उत्पत्ति आलम्बन प्रत्यय, अधिपति प्रत्यय, समनन्तर प्रत्यय और सहकारी प्रत्यय के अधीन होती है।[8] नील वस्तु नील विज्ञान का आलम्बन प्रत्यय है, क्योंकि इसी के चलते नील विज्ञान नील वस्तु विषयक होता है। इन्द्रियाँ अधिपति प्रत्यय हैं, क्योंकि नीलादि विज्ञानों के आश्रय होने के साथ-साथ रूपादि ज्ञान की परिच्छेदक इन्द्रियाँ ही होती हैं। समनन्तर प्रत्यय बौद्धों की एक विशेष अवधारणा है। चित्त की सन्तान-धारा में पूर्ववर्ती क्षण उत्तरवर्ती क्षण के प्रति समनन्तर प्रत्यय होता है। इसी के चलते विज्ञान में 'इदं नीलं' रूप बोध-रूपता आती है। इसके अतिरिक्त, प्रकाश आदि को सहकारी प्रत्यय के रूप में परिगणित कर लिया गया है। कोई भी ज्ञान इन्हीं कारणभूत प्रत्ययों से प्रतीत्यसमुत्पन्न एक मिश्रित उत्पाद है।

यहाँ द्रष्टव्य है कि ज्ञान के कारणभूत घटकों में प्रत्यय रूप से उन्हीं आयतनों एवं धातुओं को प्रकारान्तर रूप से ग्रहण किया गया है जो एक-दूसरे से स्वतन्त्र एवं पृथक्-पृथक् क्षणों में विभक्त हैं। ऐसा होने से प्रथमतया ज्ञानोत्पत्ति की व्याख्या में आपाततः यह निश्चित करने में कठिनाई प्रतीत होती है कि ज्ञान के कारणभूत घटकों का परस्पर सम्बन्ध किस प्रकार होता है? इनका पारस्परिक सम्बन्ध उतना ही आवश्यक है जितना कि स्वयं ज्ञान का घटित होना। परन्तु क्षणिक धर्म आख़िर किस प्रकार एक-दूसरे से सम्बन्धित हो सकते हैं? पुनः, ज्ञान के कारणभूत घटकों का कालिक अनुक्रम में विनियोग भी सम्भव नहीं है, जो विषय-वस्तु और उसके ज्ञान में कारण-कार्य सम्बन्ध और स्वयं ज्ञान की क्रियामीमांसीय व्याख्या के लिए आवश्यक है। वस्तुतः क्रिया की उत्पत्ति-प्रक्रिया में ज्ञानोत्पत्ति का विश्लेषण जब स्थैर्यवादी दृष्टिकोण के अन्तर्गत किया जाता है तो क्षणिकवादी दृष्टि से ज्ञानोत्पत्ति की व्याख्या में उपर्युक्त विप्रतिपत्तियों का दिखाई पड़ना स्वाभाविक ही है। परन्तु ज्ञानोत्पत्ति का क्रियामीमांसीय सिद्धान्त कोई अन्तिम और सर्वतन्त्र स्वतन्त्र सिद्धान्त नहीं है।[9] इसकी व्याख्या दूसरे सिद्धान्त के द्वारा भी की जा सकती है। सर्वास्तिवादी वैभाषिकों ने "सर्वः स स्पर्श प्रतीत्य" की दृष्टि से ज्ञानोत्पत्ति को कालिक अनुक्रम में न देखकर सन्निपात के प्रारूप के रूप में व्याख्यायित करने का प्रयास किया है।

इस सिद्धान्त के अनुसार ज्ञानोत्पत्ति के कारणभूत घटकों का समवधान, वास्तव में, कालिक अनुक्रम में न होकर समानान्तर और युगपद् रूप में होता है। ये सभी घटक अपनी समानान्तर और युगपद् उपस्थिति के अतिरिक्त ज्ञान को उत्पन्न करने में किसी अन्य प्रकार की क्रिया नहीं करते, जैसाकि परयूथ्य के दार्शनिक कर्त्ता, करण, करणनिष्ठ व्यापार तथा फल के रूप में ज्ञानोत्पत्ति की व्याख्या करते हैं। ज्ञानोपत्ति के घटक तत्त्वों का स्वभाव ही ऐसा है कि उनके बीच न कोई वास्तविक सम्बन्ध है और न कोई वास्तविक क्रिया-प्रतिक्रिया ही है, फिर भी उन कारण सामग्रियों के युगपद् सन्निपात से विज्ञान प्रतीत्यसमुत्पन्न होता है। वैभाषिकों के अनुसार आलम्बन, इन्द्रिय-विकार और विज्ञान का त्रिक सन्निपात होना ही प्रत्यक्ष का घटित होना है। त्रिक सन्निपात को पारिभाषिक शब्दावली में 'फस्सो' (पाली) अथवा स्पर्श (संस्कृत) कहा जाता है।[10] त्रयी का स्पर्श होने से इन्द्रियाँ विकारी होती हैं[11] और तत्तद् इन्द्रियाश्रित विज्ञानों के द्वारा तत्तद् विषयों का साक्षात्कार होता है। उदाहरण के लिए चक्षुरिन्द्रिय का एक क्षण, रूप का एक क्षण और विज्ञान का एक क्षण इन तीनों के युगपद् स्पर्श से चक्षुरिन्द्रिय में रूप का विकार, अर्थात् रूपाकारवृत्ति होती है और तदाश्रित चक्षुर्विज्ञान द्वारा रूप-स्वलक्षण का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होता है। ऐसे ही सभी इन्द्रियों का विकारी होना और तत्तद् आश्रित इन्द्रिय विज्ञानों द्वारा उनसे परिच्छेदित विषयों का प्रत्यक्ष समझना चाहिए। इस सम्बन्ध में वैभाषिकों की एक विशेष मान्यता है कि चक्षुरिन्द्रिय देखती है और विज्ञान जानता है।[12] यहाँ चक्षुरिन्द्रिय से सभी इन्द्रियों की उपलक्षण रूप से विवक्षा है। प्रत्यक्ष के घटित होने की यह सम्पूर्ण प्रक्रिया कारण सामग्रियों के युगपद् सन्निपात से ठीक वैसे ही होती है जैसे सूर्य का उदय और दिवस का होना।

इस प्रकार वैभाषिकों के प्रत्यक्ष-विचार में सारूप्य जैसी किसी अवधारणा को खोजने का प्रयास किया जाय तो कहा जा सकता है कि उनके मत में सारूप्य का ग्रहण इन्द्रियविज्ञानों के द्वारा न होकर इन्द्रिय-विकार के रूप में फलित होता है। इस सम्बन्ध में तीन बातें विचारणीय हैं। प्रथमत: यह कि वस्तुक्षण (आलम्बन प्रत्यय), इन्द्रियक्षण (अधिपति प्रत्यय) और विज्ञानक्षण (समनन्तर प्रत्यय) का स्पर्श – सन्निपात– होने से इन्द्रियाँ विकारी होती हैं। इन्द्रियों के विकारी होने का तात्पर्य उनमें वस्तुक्षण के आकार का आकारित होना है जिसे इन्द्रियाँ अपनी सम्प्राप्तग्राही और असम्प्राप्तग्राही[13] प्रकृति के अनुसार ग्रहण करती हैं। इन्द्रियों में वस्तुप्रतिभास गृहीत होने के पीछे वैभाषिकों का एक साधरण तर्क यह है कि चूँकि सप्रतिघ (मूर्त व्यवधान-युक्त) रूपों का प्रतिभास नहीं होता और 'तद्भावभावित्व' के नियम से रूपादि विषयों का परिच्छेद इन्द्रियों द्वारा ही निर्धारित होता है अतएव इन्द्रियों के द्वारा ही प्रतिभास ग्रहण समीचीन है।[14] आँखों से देखना, कानों से सुनना इत्यादि लोकव्यवहार भी इसी का समर्थन करता है। द्वितीय यह कि वैभाषिक निराकारज्ञानवादी हैं।[15] इनके मत में इन्द्रियाँ साकार और इन्द्रियाश्रित विज्ञान निराकार होता है। इन्द्रियाश्रित विज्ञानों के द्वारा वास्तव में इन्द्रियगत प्रतिबिम्बों का साक्षात्कार किया जाता

है। यदि विज्ञान में ही रूपादि का प्रतिभास माना जाय तो सप्रतिघ रूपों का भी ग्रहण होने लगेगा।[16] विज्ञान का चूँकि स्वभाव ही अप्रतिघ होता है अत: प्राचीर, कुड्यादि रूपी धर्म उसके गमन में बाधक नहीं होते। तृतीय यह कि वस्तुक्षण, इन्द्रियक्षण और विज्ञानक्षण के त्रिक सन्निपात होने से ज्ञेय वस्तु-क्षण अपने विज्ञान-काल में मृतपूर्ववर्ती क्षण नहीं बल्कि अपने ज्ञान के साथ-साथ जीवित रहता है। वैभाषिकों की पारिभाषिक शब्दावली में इसे सहभूहेतुओं की अन्योन्य हेतु-फल-व्यवस्था कहते हैं।[17] अपनी इसी मान्यता के चलते उन्हें बाह्यार्थों के अव्यवहित प्रत्यक्ष को स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं होती।

III

सौत्रान्तिकों ने वैभाषिकों के प्रत्यक्ष की व्याख्या और उससे सम्बन्धित उपर्युक्त त्रिविध निष्पत्तियों की कटु आलोचना करते हुए कुछ मूलभूत परिष्कारों को प्रतिपादित किया है। ऐसे परिष्कार मूलत: क्षणिकता की अवधारणा के तार्किक स्वरूप को लेकर किये गये हैं। लेकिन सर्वास्तिवादी ज्ञानमीमांसा पर उनका जैसा प्रभाव पड़ा है उससे ज्ञान के विषय और करण पक्ष की व्याख्या बदली है और परिणामस्वरूप 'सारूप्य' की अवधारणा को आधारभूत ज्ञानमीमांसीय प्रस्थिति एवं भूमिका प्राप्त हुई है।

सौत्रान्तिकों के द्वारा किया गया पहला परिष्कार संस्कृत धर्मों के स्वरूप लक्षण से सम्बन्धित है। बुद्ध वचनों में संस्कृत धर्मों को उत्पाद, व्यय और स्थित्यन्यथात्व नामक तीन लक्षणों से प्रज्ञात बताया गया है।[18] वैभाषिक इसके आधार पर संस्कृत धर्मों की व्याख्या जाति, स्थिति, जरा और अनित्यता नामक चतुर्विध लक्षणों के अन्तर्गत करते हैं।[19] जाति संस्कृत धर्मों का उत्पाद लक्षण है, स्थिति उनका स्थापनीय लक्षण है, जरा उनके ह्रास लक्षण को सूचित करती है और अनित्यता उनका विनाशी लक्षण है। इस तरह वैभाषिक संस्कृत धर्मों के अतीत, वर्तमान और अनागत कारित्र के आधार पर उनकी त्रैकालिकता और क्षणिकत्व (द्रव्यगत त्रैकालिकता और भाव, लक्षण, अवस्था एवं कारित्र की दृष्टि से क्षणिकत्व) का समन्वय करते हैं। सौत्रान्तिक इसकी आलोचना करते हुए पूछते हैं कि यदि धर्मों के वर्तमानकालिक अस्तित्व की तरह ही उनका अतीत और अनागत अस्तित्व है तो उन्हें आख़िर किस लिए अतीत और अनागत कहा जाता है? ऐसा मानने से तो धर्मों के त्रैकालिक लक्षणों का किसी भी एक काल में व्यामिश्रण हो जाता है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि धर्मों की सत्ता तो तीनों कालों में रहती है लेकिन कारित्र केवल वर्तमान कालिक होता है, क्योंकि वास्तव में कारित्र से पृथक् एवं परे धर्मों की कोई अन्य सत्ता ही नहीं है। वैभाषिकों के ऐसे विचार शाक्यगोत्रीय न होकर एक प्रकार के प्रच्छन्न शाश्वतवाद मूलक हैं जो स्वयं के तर्कबल पर खड़ा न होकर बुद्ध-वचनों के विनेयजन-सुलभ अर्थ को उनका गूढ़ार्थ समझता है। सौत्रान्तिकों के अनुसार यावत्संस्कृत धर्मों का केवल उत्पाद और विनाश ही वास्तविक लक्षण है।[20] उत्पाद और विनाश के निरन्तर प्रवाह में वैभाषिकों के चारों लक्षणों का अन्तर्भाव एवं समन्वय हो जाता है। उत्पाद अभूत्वाभाव है, स्थिति प्रबन्ध है,

जरा इसकी पूर्वापर विशिष्टता है और अनित्यता प्रवाह का उच्छेद है।[21] इस तरह संस्कृत धर्मों का केवल अभूत्वाभाव और भूत्वाभाव होता है। धर्मों का वास्तविक स्वभाव कारित्र (या भूति सैव क्रिया) है। इस दृष्टि से तत्क्षण क्रिया को समाप्त कर निरन्वय विनाश ही क्षणिकता है।[22]

सौत्रान्तिकों के द्वारा किया गया दूसरा महत्त्वपूर्ण परिष्कार सहभू हेतुओं की अवधारणा से सम्बन्धित है। वैभाषिकों के अनुसार सभी धर्म स्वत: से अन्य सभी संस्कृत धर्मों के कारण हेतु हैं, क्योंकि उत्पन्न होने वाले सभी धर्मों के उत्पाद के प्रति प्रत्येक धर्म का अविघ्न भाव से अवस्थान होता है।[23] परन्तु कुछ एक धर्म सहोत्पन्न, अर्थात् साथ-साथ उत्पन्न होने से सहभूहेतु कहलाते हैं। सहभूहेतुओं की विशिष्टता यह है कि उनका परस्पर हेतु-फलभाव होता है।[24] उदाहरण के लिए चक्षु, रूप और विज्ञान क्षण सहभू-हेतु के रूप में उत्पत्तिमान् धर्म कहे जाते हैं। इनके मध्य परस्पर अर्थक्रिया होने से परस्पर हेतु-फलभाव व्यवस्थित होता है। सौत्रान्तिक इसका प्रतिवाद करते हुए कहते हैं कि लोक में कुछ वस्तुओं का हेतु-फलभाव सदैव इस रूप में व्यवस्थित है कि हेतु फल का नियत पूर्ववर्ती होता है। परन्तु सहोत्पन्न धर्मों में इस न्याय की प्रयुक्ति नहीं देखी जाती।[25] यहाँ न्याय शब्द का प्रयोग लौकिक निर्धारण के अर्थ में हुआ है, जो इस बात का द्योतक है कि सौत्रान्तिक मत में परमार्थत: और वास्तविक रूप में कोई कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं होता, क्योंकि वास्तव में सभी धर्म निर्व्यापार हैं। वैभाषिकों का इस पर कहना है कि "तद्भावभावित्व' रूप अन्वय-व्यतिरेक हेतु-फल व्यवस्था का सुष्ठु लक्षण है और यह नियम सहोत्पन्न धर्मों पर लागू होता है।[26] यहाँ सौत्रान्तिकों का पक्ष यह है कि सहोत्पन्न धर्मों में एक धर्म दूसरे धर्म का हेतु हो सकता है परन्तु सहोत्पन्न धर्म परस्पर हेतु और फल के रूप में व्यवस्थापित नहीं किये जा सकते।[27] क्षणिकवाद में फलोत्पत्ति के क्षण में हेतु क्षण का सहावस्थान सम्भव नहीं है। यह बात सही है कि आलम्बन प्रत्यय (रूप), अधिपतिप्रत्यय (इन्द्रिय) और समनन्तरप्रत्यय (पूर्ववर्ती विज्ञान) की सहोत्पत्ति हेतु रूप से प्रथम क्षण है लेकिन इन्द्रिय-विज्ञान रूप फलोत्पत्ति द्वितीय क्षण में होती है।[28] इस द्वितीय क्षण में सहोत्पन्न रूप-इन्द्रियादि निरुद्ध हो चुके रहते हैं। वास्तव में हेतु-प्रत्ययतावाद के अन्तर्गत विषयपरिच्छेदक इन्द्रिय-विज्ञान सहोत्पन्न नहीं बल्कि समनन्तरोत्पन्न हुआ करता है। हेतु और फल को सहोत्पन्न मानने पर फल, जो कि जन्य धर्म है, उसका प्रतिक्रम होगा और यह कथमपि उचित नहीं है।[29] वस्तुत: सौत्रान्तिकों के अनुसार संज्ञान की व्याख्या में कारणभूत घटकों अर्थात् सहभूहेतुओं का परस्पर हेतु-फल-भाव इसलिए व्यवस्थापित नहीं किया जा सकता क्योंकि वे सभी परस्पर अर्थक्रियाकारी नहीं होते बल्कि सहभूहेतु एकार्थक्रियाकारिता के द्वारा इन्द्रिय-विज्ञान रूपी फल को उत्पन्न करते हैं। सहभू हेतुओं की एकार्थक्रियाकारिता मानने पर ही हेतु और फल (इन्द्रिय-विज्ञान) का पूर्वापर भाव व्यवस्थित रहता है।

सौत्रान्तिकों के द्वारा किया गया तीसरा परिष्कार इन्द्रियों और इन्द्रियाश्रित विज्ञानों की संज्ञान विषयक भेदपूर्ण भूमिका से सम्बन्धित है। यह परिष्कार पूर्व के दोनों संशोधनों की पृष्ठभूमि में सारूप्य की अवधारणा को सीधे-सीधे प्रस्तावित करता है। काश्मीरी वैभाषिकों

का मानना है कि चक्षु के द्वारा रूप को देखा जाता है और विज्ञान के द्वारा उसे ही जान जाता है। (चक्षु: पश्यति, विज्ञानं विजानाति)।[30] इस प्रश्न पर वैभाषिकों एवं सौत्रान्तिकों के बीच बहुत लम्बा वाद-विवाद हुआ है। दोनों अपने-अपने अनुकूल आगमों की व्याख्या एवं युक्तियों का संग्रह करते हैं। अन्त में सौत्रान्तिक[31] इस टिप्पणी के साथ विवाद को समाप्त कर देता है कि चक्षु देखता है और विज्ञान को वस्तु की चेतना होती है - दोनों में अन्तर करते हुए विवाद करना शून्याकाश को चबाने जैसा है। कौन द्रष्टा है, कौन सी क्रिया है, यह सब निरर्थक प्रश्न हैं। धर्मों के अतिरिक्त किसी अन्य का अस्तित्व नहीं है। वे ह निर्व्यापार धर्म हेतु-प्रत्यय रूप से समुत्पन्न होते हैं। 'चक्षु देखता है', 'विज्ञान को ज्ञान होता है', जैसी अभिव्यक्तियों का केवल लोक-व्यवहार है। इस प्रकार की लोक-प्रचलित अभिव्यक्तियों का वास्तव में सैद्धान्तिक निर्धारण की दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं है। ऐसा स्वयं बुद्ध का वचन भी है -जनपद-निरुक्तं नाभिनिवेशेत संज्ञा च लोकस्य नाभिधावेत।'

वस्तुत: इन्द्रियों और इन्द्रियाश्रित विज्ञानों के कार्यों का 'पश्यति' और 'विजानाति' के रूप में द्वैधीकरण करते हुए वैभाषिक विज्ञानों की निराकारता और इन्द्रियों की साकारता का प्रतिपादन करना चाहते थे। इस आधारभूमि पर बाह्यार्थ प्रत्यक्षवादी दृष्टि से सर्वास्तिवाद की प्रतिष्ठा करना अपेक्षाकृत आसान था। परन्तु सौत्रान्तिकों को ज्ञानोत्पत्ति की प्रक्रिया में इन्द्रियों के साकार होने जैसा हस्तक्षेप स्वीकार्य नहीं है। वास्तव में इन्द्रियों की साकारता और साकार इन्द्रियों में निराकार विज्ञान की आश्रयता, जैसा कि वैभाषिक मानते हैं कथमपि उचित नहीं। उनकी दृष्टि में इन्द्रियाँ एक तटस्थ और पारदर्शी द्वार की तरह हैं इन्द्रियाँ अधिपति प्रत्यय के रूप में विज्ञानाश्रय होती हैं लेकिन स्वयं को ज्ञान में निविष्ट नहीं करतीं। भर्तृहरि के प्रसिद्ध टीकाकार हेला राज[32] का भी ऐसा ही मानना है कि ज्ञानोत्पत्ति में सहयोगी होते हुए भी स्वयं को ज्ञान में निविष्ट न करना, ज्ञान के कारणों में से कुछ का स्वभाव ही ऐसा होता है। ज्ञानेन्द्रियों का स्वभाव ऐसा ही समझना चाहिए। ज्ञानश्री मित्र ने भी इन्द्रियों की भूमिका को 'कल्याणकामनामात्रमेतत्' रूप से ही निर्धारित किया है।[32क] इस प्रकार सौत्रांतिक अपना पक्ष इस रूप में प्रस्तुत करते हैं कि चक्षुरादि इन्द्रियाँ रूपादि में प्रवृत्त नहीं होतीं अपितु चक्षुर्विज्ञान, अर्थात् चक्षु को सम्मुख करता हुआ विज्ञान, ही रूप का ग्रहण करता है। विज्ञान के द्वारा सप्रतिघ रूपों के ग्रहण का प्रसंग (वैभाषिक आपत्ति) तब तब उत्पन्न होगा जब यह माना जाय कि विज्ञान चक्षुरिन्द्रियों से निरपेक्ष होकर रूपादि के ग्रहण में प्रवृत्त होता है। इसके अतिरिक्त प्रकृत प्रसंग में एक और परिष्कार अवधेय है कि वैभाषिक विज्ञान का स्वसंवेदन स्वीकार नहीं करते जबकि सौत्रान्तिक स्वसंवेदन को अनिवार्य मानते हैं।

IV

अब यदि उपर्युक्त परिष्कारों के साथ सौत्रान्तिक व्याख्या की दृष्टि से विचार किया जाय तो प्रत्यक्ष का स्वरूप कुछ भिन्न रूप में सामने आता है, साथ ही साथ वैभाषिकों का

बाह्य प्रत्यक्षवाद कतिपय विरोधाभासों से भरा हुआ प्रतीत होता है। वस्तुत: वैभाषिकों ने क्षणिकता की अवधारणा को गम्भीरता से नहीं लिया है और तदनुरूप उनकी प्रत्यक्ष की व्याख्या भी उसी अगम्भीरता के साथ प्रस्तुत हुई है। प्रत्यक्ष साधारण अर्थ में प्रदत्त का साक्षात् बोध है। सौत्रान्तिक समीक्षा में प्रदत्त का स्वरूप अर्थक्रियाकारी होने से क्षणिक है, क्योंकि अर्थक्रियाकारित्व अन्वय और व्यतिरेक दोनों ही रूपों में क्षणिकत्व को ही सिद्ध करता है। अतएव प्रत्यक्ष का ग्राह्य विषय भी वही क्षणिक धर्म होना चाहिए। परन्तु कठिनाई यह है कि उनके अनुसार न केवल धर्म क्षणिक हैं बल्कि प्रत्यक्ष बोध भी अपने आप में एक क्षणिक धर्म है और ऐसा होने से प्रत्यक्ष की प्रक्रिया भी उतनी ही क्षणिक है। यहाँ क्षणिक विज्ञानों के निरन्तर उत्पाद-विनाश के अतिरिक्त किसी आधारभूत नित्य आत्मा को भी नहीं स्वीकार किया गया है जो ज्ञायमान वस्तु में होने वाले सतत परिवर्तन को ग्रहण कर सके। पुन:, प्रत्यक्ष की प्रक्रिया और प्रत्यक्ष का विषय यदि समान रूप से क्षणिक हैं तो दोनों में किसी प्रकार सम्बन्ध सम्भव है जिसके परिणामस्वरूप प्रत्यक्ष-रूप फल उत्पन्न हो सके। यह सब कुछ प्रत्यक्ष के उस अर्थ की असम्भावना प्रदर्शित करते हैं जिस अर्थ में प्रत्यक्ष को बाह्यार्थ का ग्राहक माना जाता है। प्रत्यक्ष के लिए विज्ञान और वस्तुक्षण में इन्द्रियों के माध्यम से किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध अवश्य अपेक्षित है लेकिन क्षणभंगुर तात्कालिकता इसके लिए पर्याप्त आधार प्रदान नहीं करती। इसके लिए वस्तुक्षण को कम से कम प्रत्यक्ष की प्रक्रिया पूर्ण होने तक स्थिर रहना चाहिए, ताकि एक क्षण दूसरे क्षण को प्राप्त कर ग्रहण कर सके। परन्तु ऐसा स्वीकार करने में अन्तत: क्षणभंगुरता का ही विरोध होगा।[33] पुन:, यदि वस्तुक्षण को ज्ञानक्षण का कारण, अर्थात् आलम्बन प्रत्यय, माना जाता है तो कारण को कार्य रूप फल का पूर्ववर्ती होना चाहिए। लेकिन उसकी पूर्ववर्तिता भी किसी काम की नहीं, क्योंकि पूर्ववर्ती क्षण क्षणिक होने से कार्य के समुत्पन्न होने के पूर्व ही विनष्ट हो जाता है।[34] अत: परमार्थत: कुछ भी नहीं जाना जा सकता। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि वह जो हमारे वर्तमान ज्ञान के विषय के रूप में प्रकट होता है, उसके अस्तित्व का कोई वस्तुनिष्ठ क्षण नहीं है। जब वस्तुक्षण रहता है तो ज्ञानक्षण नहीं होता और जब ज्ञानक्षण होता है तो वस्तुक्षण नहीं रहता।[35] सौत्रान्तिकों के अनुसार अतीत क्षण असत् है क्योंकि वर्तमान में उसका उपलम्भाभाव है। अनुपलम्भ हमारे ज्ञान का विषय नहीं हो सकता और यदि होता है तो अतीत-अनागत सब कुछ अनायास ही हमारे ज्ञान के विषय हो जायेंगे।[36] अत: क्षणभंगुरता की परिकल्पना के अन्तर्गत वर्तमान ज्ञान का कोई बाह्य प्रतिरूप स्थिर नहीं किया जा सकता। वस्तुसत्ता की क्षणभंगुरता एवं उसकी प्रत्यक्ष-वेद्यता में पारस्परिक असमंजसता है।

ऐसा नहीं है कि वैभाषिकों को इस विरोधग्रस्त स्थिति का आभास नहीं रहा होगा। सम्भवत: इसीलिए उन्होंने प्रत्यक्ष के कारण रूप से तीन धर्मों (आलम्बन, इन्द्रिय-विकार, विज्ञान) के परस्पर स्पर्श को ही 'ज्ञान' स्वीकार किया था और साथ ही तीनों सहोत्पन्न धर्मों

के मध्य ही एक प्रकार से 'अन्तर्गत हेतु-फल व्यवस्था' मान ली थी। दूसरे शब्दों में, ज्ञान के कारणों और उत्पन्न ज्ञान में हेतु-फल व्यवस्था नहीं बल्कि ज्ञान के कारणों में ही हेतु-फल व्यवस्था अन्तर्निहित रूप से मान ली गई थी, क्योंकि ज्ञान के त्रिविध करणों का सन्निपात होना ही ज्ञान है, ज्ञान उस सन्निपात का फल रूप एक नवीन धर्म नहीं है। सौत्रान्तिकों की दृष्टि में वैभाषिकों का ऐसा विचार कोई अविचाररमणीयता नहीं है फिर भी समस्या के मूल की अनदेखी करने वाला है। दो या दो से अधिक वस्तुओं की समकालिक उपस्थिति को हेतु की भूमिका में रखा जा सकता है, लेकिन इन्हीं समकालिकों के बीच हेतु-फल व्यवस्था का विधान नहीं किया जा सकता।[37] यह तभी सम्भव है जब ज्ञान के कारणों और ज्ञान को समानकालभावी और सहजीवी माना जाय। परन्तु ऐसा मानने पर ज्ञान के यावत् कारणभूत घटकों की ज्ञान-विषयता माननी पड़ेगी। इस व्यवस्था के अन्तर्गत इस प्रश्न का कोई समुचित उत्तर नहीं हो सकता कि आख़िर रूपादि धर्म ही क्यों ज्ञान के विषय होते हैं, इन्द्रियाँ क्यों नहीं होतीं, जबकि दोनों सहभावी और समान रूप के कारण होने के कारण प्रकाशित होने के अधिकारी हैं।[38] वैभाषिकों का निराकारज्ञानवादी अभ्युपगम इस आक्षेप को और भी दृढ़ता प्रदान करता है।

यहाँ ध्यातव्य है कि सौत्रान्तिकों द्वारा प्रदर्शित उपर्युक्त विरोध से प्रत्यक्ष का सर्वतोभावेन उच्छेद नहीं समझा जाना चाहिए। वास्तव में इससे बाह्यार्थ के बाह्यार्थत्वेन प्रत्यक्ष की अनुपपन्नता विवक्षित है। एतदर्थ विचारणीय हो जाता है कि यदि बाह्यार्थ क्षणिक होने के कारण ज्ञान-ग्राह्य, अर्थात् प्रत्यक्षवेद्य नहीं हो सकता (ज्ञानेन प्रापयितुम् अशक्यत्वात्) तो क्या अनुमेय हो सकता है? बाह्यार्थ ज्ञान के अनुरोध से सौत्रान्तिकों को नित्यानुमेयवादी कहा भी जाता है।[39] परन्तु बाह्यार्थ की अनुमेयता भी तो प्रत्यक्षपूर्वक ही सम्भव है, अन्यथा कुछ भी ज्ञेय नहीं हो सकेगा और जगदान्ध की प्रसक्ति होगी। अतः प्रत्यक्ष का कोई न कोई आकार अवश्य होना चाहिए। सौत्रान्तिक यहाँ अपने पक्ष को बहुत ही मौलिक दृष्टि के साथ उपस्थापित करते हैं। वह यह कि वास्तव में 'प्रत्यक्ष' बाह्यार्थ की बाह्यार्थ रूप से उपलब्धि नहीं होकर बाह्यार्थाकार रूप से उपलब्धि है। इसी आकार के अनुरोध से क्षणसन्तान में एकत्व का आरोप करके बाह्यार्थ अनुमित होता है और अनुमेय बाह्यार्थ में ही हमारा अभिनिवेश होता है।

सौत्रान्तिक व्याख्या में 'चक्षुः प्रतीत्य रूपाणि चोत्पद्यते चक्षुर्विज्ञानम्'-चक्षु एवं रूप को प्राप्त कर चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न होता है। तात्पर्य यह है कि अपने-अपने कारणों से उत्पन्न चक्षु, रूप और समनन्तर विज्ञान क्षण का संयोगवश जब सन्निपात होता है तो उसके फलस्वरूप चक्षुर्विज्ञान की उत्पत्ति होती है। चक्षुर्विज्ञान की उत्पत्ति में उसके कारणभूत क्षण वास्तव में कोई क्रिया नहीं करते बल्कि तीनों की साँयोगिक सन्निपात रूप हेतुता ही समवेत रूप से चक्षुर्विज्ञान की जनक होती है। इस प्रकार से चक्षुर्विज्ञान जब उत्पन्न होता है तो चक्षु और रूपादि क्षण सहकालजीवी नहीं होते बल्कि उनका निरोध हो चुका रहता है, जिनका

सन्निपात चक्षुर्विज्ञान को उत्पन्न करता है। यहाँ यह आक्षेप हो सकता है कि इस रूप से उत्पन्न चक्षुर्विज्ञान की विषयिता निरुद्ध हो चुके अतीत अर्थात् असत् क्षण में होनी चाहिए जो वास्तव में एक अतिप्रसंग है। पुन:, यदि उत्पन्न चक्षुर्विज्ञान विषयता से रहित है तो ऐसा अन्ध प्रत्यक्ष किसी काम का नहीं। विज्ञान की विषयता बनाये रखने के लिए यदि चक्षुर्विज्ञान के क्षण तक उसके कारणभूत घटकों की स्थिति मानी जाय तो क्षण-भंग-बाध की इष्टापत्ति होगी।

सौत्रान्तिकों के अनुसार इस प्रकार के आक्षेपों की उद्‌भावना निराकारविज्ञानवादी और स्थैर्यवादी ही कर सकते हैं, क्योंकि उनके मत में ज्ञान प्रकाशक होता है। प्रतिभासवादी दृष्टि में इस प्रकार के आक्षेपों के लिए कोई स्थान नहीं। अवधेय है कि उपर्युक्त प्रक्रिया में चक्षुर्विज्ञान निराकार उत्पन्न नहीं होता, जैसा कि वैभाषिक मानते हैं, बल्कि साकार, अर्थात् अपने आलम्बन का सारूप्य धारण करते हुए, उत्पन्न होता है। अत: आकार का ही प्रत्यक्षात्मक ग्रहण होता है, उस वस्तु का नहीं जिसने आकार को अर्पित किया है। क्योंकि यह वस्तु तब तक निरन्वय रूप से निरुद्ध हो चुकी रहती है। हमारे पास केवल साकार विज्ञान ही शेष रहता है और उसी का ग्रहण हमें संसारोन्मुख करता है। विज्ञान में विषयसंवेदन वास्तव में विपर्ययसरूपस्वरूपसंवेदन मात्र ही है।[40] विषयसंवेदन की दृष्टि से क्षणिक आलम्बन की व्याख्या दो प्रकार से हो सकती है। प्रथमत: यह कि उत्पाद लेता हुआ विषय विज्ञान का आलम्बन बनता है, परन्तु उत्पाद पूर्ण होने के पूर्व विषय की सत्ता नहीं होती कि उसकी आलम्बनता स्थापित हो सके। द्वितीयत: यह कि उत्पन्न होने के पश्चात् विषय विज्ञान का आलम्बन बनता है। परन्तु ऐसा मानने पर विषयोत्पाद का क्षण न होकर विज्ञानोत्पाद का क्षण होगा, जिसमें विषय-प्रतिभास रूप उत्पत्ति को छोड़कर विज्ञान की अन्य क्रिया नहीं हो सकती कि विज्ञान द्वारा विषयालम्बन का ग्रहण हो सके।[41] धर्मकीर्ति[42] ने इसी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि क्षणिकवाद में वस्तु और समुत्पन्न विज्ञान का काल भिन्न-भिन्न होने से भी विज्ञान के द्वारा बाह्य वस्तु का वस्तुत्वेन ग्रहण सम्भव नहीं। विज्ञान के प्रति वस्तु की हेतुता इतने से सिद्ध हो जाती है कि वस्तु अपने आकार को विज्ञान में अर्पित कर देती है। अतएव अपने स्वगत आकार में नि:शेष विज्ञान के लिए आकार ही ग्राह्य होता है। आकार का ग्राह्य होना वास्तव में उसका स्वसंवेद्य होना है। वह अपना अतिक्रमण कर वस्तु को वस्तुत्वेन ग्रहण नहीं कर सकता। कहा भी गया है कि विज्ञान को साकार मानने पर वस्तुप्रतिभास ही वेद्य हो सकता है, स्वयं वस्तु नहीं। (साकार ज्ञान पक्षे च तन्निर्भास्य वेद्यते)। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि यदि वस्तु-प्रतिभास ही वेद्य है तो इन्द्रिय-प्रतिभास की वेद्यता क्यों नहीं मानी जाती, जबकि वस्तु जैसे ज्ञान का हेतु है वैसे ही इन्द्रियां भी हेतु होती हैं। इस पर धर्मकीर्ति का कहना है कि वस्तुओं में अधिपतिप्रत्यय ज्ञान की हेतुता तो होती है लेकिन ग्राह्यता नहीं। इसका कारण यह है कि वस्तुएँ बुद्धि में अपना प्रतिभास - आकार समर्पित करती हैं लेकिन इन्द्रियाँ ऐसा नहीं करती

हैं। इसलिए वस्तुओं में ज्ञान की हेतुता और तदाकार रूप से उनकी ग्राह्यता भी होती है।[43] तदाकारता के अतिरिक्त ग्राह्यता और कुछ हो ही नहीं सकती।

V

इसी तादाकारता को बौद्ध दर्शन में प्रतिभास, निर्भास, अर्थाभास, सादृश्य, सरूप एवं सारूप्य इत्यादि नामों से अभिहित किया गया है। इन सभी पदों से ज्ञान में एक आकार की संकल्पना को अवधारित किया गया है जो उनकी दृष्टि में ज्ञानमात्र के लिए आवश्यक शर्त है।[44] परन्तु यह आकार क्या है जिसे सारूप्य पद से अभिहित किया जाता है? इसे दो वस्तुओं के सादृश्य के साधारण अर्थ में कम से कम नहीं समझा जा सकता। बौद्ध दार्शनिकों ने यदा-कदा इसे समझाने के लिए दर्पण और उसमें प्रतिबिम्बित आकार को दृष्टान्त रूप में प्रस्तुत किया है। यह दृष्टान्त भी एक कामचलाऊ स्थूल उदाहरण मात्र है जो सारूप्य के वास्तविक भाव को प्रकट नहीं करता है। देखा जाय तो प्रतिबिम्ब किसी बिम्ब का समानकालिक हुआ करता है लेकिन सारूप्य की बौद्ध अवधारणा में बिम्ब की अनुपस्थिति में केवल उसका प्रतिरूप होता है। इस प्रतिरूप की विलक्षणता इसमें निहित है कि यह आत्मसंवित् होता है। अतएव कहा जा सकता है कि सारूप्य विज्ञान का स्वरूप ही है, क्योंकि यह इसी रूप में उत्पन्न होता है। यह किसी वस्तु का सचेतन-भाव में रूपान्तरण अथवा पुनर्जन्म है। दूसरे शब्दों में, किसी वस्तु के ज्ञात होने के लिए उसका सचेतन-भाव रूप में पुनर्भव आवश्यक है। अन्यथा कोई वस्तु 'वस्तु' ही बनी रहेगी[45] कभी सचेतन-भाव रूप वस्तुता को प्राप्त नहीं हो सकेगी। सारूप्य इसी अर्थ में वस्तु का विज्ञानाकार प्रतिरूप है। यह विज्ञानाकार प्रतिरूप एक आत्मचेतन स्थिति है जो विषयचेतना का समानुपाती होता है।

यहाँ अवधेय है कि ज्ञान के आकार की संकल्पना एक दूसरे रूप में भी अवधारित की जा सकती है। वह यह कि ज्ञान भाषा के आकारों में आकार ग्रहण करता है, अर्थात् शब्दाकार अथवा वाक्याकार होता है। नैयायिक एवं मीमांसक ज्ञान को यद्यपि स्वभाव से सविषयक मानते हैं तथापि ज्ञान उनके मत में निराकार ही होता है।[46] उनकी दृष्टि में आकार एक देशीय संकल्पना है और ज्ञान को देशीय संकल्पना के अन्तर्गत अवधारित नहीं किया जा सकता। एतदर्थ सावयव वस्तुएँ ही आकारवान् होती हैं, तद्विषयक बुद्धि = ज्ञान स्वरूपत: निराकार होता है। चूँकि शब्दों के द्वारा अभिलपित होने की योग्यता ज्ञान के स्वरूप में ही निहित है अतएव सविषयक ज्ञान शब्दों अथवा वाक्यों के आकार द्वारा निरूपित होता है, जो उसे अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं। वस्तुत: न्याय-वैशेषिक एवं मीमांसकों के लिए ज्ञान की आकार विषयक समस्या शब्दाकार अथवा वाक्याकार के स्वरूप विषयक समस्या ही है। ज्ञान स्वभावत: सविषयक होते हुए भी निराकार होता है लेकिन स्वविषय के आकार में उसकी विषयता होने से यह साकार भासित होता है। अत: ज्ञान का आकार वास्तव में ज्ञाननिष्ठ नहीं बल्कि जगन्निष्ठ है। जगन्निष्ठ सावयव पदार्थों के

आकार का संसर्ग ज्ञान के साथ भाषा के माध्यम से होता है, क्योंकि ज्ञान को अभिलपित करने वाले शब्दों अथवा वाक्यों का आकार वास्तव में ज्ञान के विषय का ही आकार है।[47]

न्याय-वैशेषिक एवं मीमांसकों की, थोड़े बहुत साम्प्रदायिक भेद के साथ, ज्ञान की आकारयोगिता के सम्बन्ध में उपर्युक्त व्याख्या निश्चित रूप से एक मौलिक दृष्टि है। ये ज्ञानविषयक एकरूपीय और समस्तरीय अवधारणा को प्रस्तावित करते हैं। इसे उनकी वस्तुवादी तत्त्वमीमांसीय दृष्टि के साथ अपेक्षाकृत अधिक संगत भी कहा जा सकता है। यह बात भी सही है कि ज्ञान और भाषा का सम्बन्ध भी बहुत गहरा और अन्तरंग होता है। परन्तु विचार करने पर यह सम्बन्ध उतना ऋजु और पारदर्शी नहीं है जितना समझा जाता है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि भाषा 'विकल्पयोनि' और विकल्प 'भाषायोनि' होते हैं।[48] ऐसा होने से भाषा में आकारित ज्ञान वास्तविकता को वास्तव में आकारित करे, यह आवश्यक नहीं है। भाषा की एक मूलगामी प्रवृत्ति अपोहन है। अपनी इस प्रवृत्ति के चलते भाषा अतद्व्यावृत्तिपूर्वक ही ज्ञान को आकार प्रदान कर सकती है, जिसे नैयायिक ज्ञान के घट-पटादि विषयों का आकार समझते हैं। इस तरह भाषा पहले वास्तविकता को विकल्पित करती है और विकल्पित वास्तविकता ही शब्दों एवं वाक्यों के आकार में भासित होती है। अतएव ज्ञान की आकारयोगिता, वास्तव में, यदि भाषा की आकारयोगिता है तो उनकी व्यवस्था में निर्विकल्पक ज्ञान की कोई स्थिति नहीं बनती, जहाँ वास्तविकता अपने निर्विकल्पक रूप में उपलब्ध होती हो। उपर्युक्त व्याख्या के सन्दर्भ में यह भी विचारणीय है कि भाषीय आकार में जो कुछ निरूपित होता है उसे पदार्थ की संकल्पना में सम्मिलित करने की बाध्यता उत्पन्न हो जाती है। पुनः, ज्ञान को देशीय आकार से बचाने के लिए ज्ञान को भाषा के आकारों में निरूपित करने का उपक्रम किया गया था। लेकिन इस अभ्युपगम में स्वयं ज्ञान ही प्रमेय पदार्थ का रूप ग्रहण कर लेता है।

इसलिए बौद्ध नैयायिकों का मानना है कि ज्ञान की आकारयोगिता का प्रथम सम्बन्ध चेतना से है और उसका द्वैतियिक सम्बन्ध भाषा से होता है। चेतना अपने में सर्वप्रथम विषयाकार स्वरूप को ग्रहण कर विषय को प्रतिभासित करती है और तदनन्तर भाषा उसे विकल्पित कर अपने सविकल्पक आकारों (नामजात्यादि योजना) में निरूपित अथवा अध्यवसित करती है। इस तरह हमें वास्तविकता के दो रूप प्राप्त होते हैं। एक प्रतिभास के धरातल पर उसका निर्विकल्पक रूप और दूसरा भाषा के आकारों में अनुविद्ध उसका सविकल्पक रूप। बौद्ध दार्शनिक अपनी शब्दावली में इसे स्वलक्षण और सामान्यलक्षण कहते हैं। अतएव बौद्ध नैयायिकों को यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं कि ज्ञान भाषा के आकारों में निरूपित होकर ही सविकल्पक रूप में व्यवहार-योग्य होता है, लेकिन यह ज्ञान स्वयं में निराकार नहीं होता बल्कि विषय के सारूप्य को लिए हुए ही उत्पन्न होता है। ज्ञान को ही मूलतः अपने विषय का संग्राहक सन्दर्भ होना चाहिए। इसके लिए ज्ञान में विषयाकार सारूप्य जैसा कुछ स्वीकार किया जाना आवश्यक हो जाता है। अन्यथा

ज्ञानमूलक प्रतिकर्म व्यवस्था अनेक प्रकार की कठिनाइयों से ग्रस्त हो जाती है। कोई भी ज्ञान अपने विषय के आकार से रहित नहीं हो सकता। ज्ञान को निराकार मानने पर उसकी सभी स्थितियाँ एक समान हो जाती हैं। उनके बीच का पारस्परिक भेदक उनकी संरचना में नहीं रहता, जबकि प्रत्येक ज्ञान को अपनी संरचना में ही दूसरे से भिन्न होना चाहिए। ज्ञान को निराकार मानने पर नील-ज्ञान को पीत-ज्ञान से किस प्रकार भिन्न किया जाना सम्भव हो सकेगा?[49] यह ज्ञान में निहित आकार ही है जो नील-ज्ञान को पीत-ज्ञान से अलग करता है। निराकार ज्ञान किसी विषय का ज्ञापक नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञापक होने के लिए यह आवश्यक है कि ज्ञान अपने में विषय का आकार धारण करे। तभी कोई ज्ञान अपने विषय का अन्यव्यावृत्त रूप से ज्ञापक हो सकता है।

नैयायिकादि बौद्धेतर दार्शनिकों के लिए ज्ञान को साकार मानना इसलिए भी कठिन हो जाता है क्योंकि तब ज्ञान के आकार जगन्निष्ठ नहीं होकर ज्ञाननिष्ठ हो जाते हैं और जगत् की सारी विचित्रता ज्ञान में निहित हो जाती है। पुन:, ज्ञान ज्ञानेतर पदार्थों को प्रकाशित करने के बजाय उनके अस्तित्व की तात्त्विक स्वतन्त्रता को अन्तर्भुक्त कर लेता है। इस तरह ज्ञाननिष्ठ धर्मों का प्रकाशन ही ज्ञान के विषय का प्रकाशन समझा जाता है। वस्तुत: सारूप्यवादी बौद्ध मत का निहितार्थ भी यही है कि नीलाकार विज्ञान का स्वरूप-संवेदन ही नील विषय के संवेदन के समतुल्य होता है। ज्ञान का विषय ज्ञान में सात्मीकृत (आत्मभावावस्थित) हुए बिना ज्ञात नहीं हो सकता। इस तरह से नील-विज्ञान का स्वरूप-संवेदन नीलादि विषयों के अनुभव की लोकव्यवस्था और लोक-प्रतीति को आहत भी नहीं करता, क्योंकि ज्ञान की विषयता तो वस्तु में होती है लेकिन वेद्यता वस्तूल्लेखी आकार में होती है।[50] नैयायिक ज्ञान में केवल विषयता मानते हैं और भाट्टमीमांसक वस्तुओं में ज्ञातता नामक धर्म स्वीकार करते हैं तथा ज्ञान की वेद्यता की व्याख्या क्रमश: अनुव्यवसाय और अनुमान द्वारा करते हैं। यदि देखा जाय तो ज्ञान का अपने आप में विदित होना ही पर्याप्त है जो उसकी स्वरूप-योग्यता है। इसके लिए ज्ञान की विषयता और ज्ञान की वेद्यता को अलग-अलग व्याख्यायित करना कदाचित् अनावश्यक भी प्रतीत होता है। पुन:, सारूप्य की अवधारणा में जगत् की सम्पूर्ण विचित्रताओं का स्रोत नितान्त ज्ञानांतर्गत नहीं होता, बल्कि जगन्निष्ठ विचित्रताएँ ही ज्ञान में प्रतिभासित होती हैं। जगन्निष्ठ विचित्र वस्तुओं की विचित्रता यह है कि वे सभी विज्ञान में अपना प्रतिभास छोड़कर नष्ट हो जाती हैं और उनका सारूप्य लिये हुए विज्ञान को ही व्यवस्थापक एवं व्यवस्थाप्य की भूमिका का निर्वाह करना पड़ता है।

VI

इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध दर्शन में सारूप्य की अवधारणा की शुरुआत सार्वभौमिक क्षणभंगुरता के अन्तर्गत एक सुसंगत ज्ञानमीमांसा प्रस्तुत किये जाने के प्रयास से होती है, परन्तु इसमें कुछ ऐसी विशिष्टताएँ भी हैं जिसके चलते इसका विकास एक

सामानान्तर ज्ञानमीमांसीय दृष्टि के रूप में सम्भव हुआ है। सारूप्यवाद अपने मूल रूप में प्रकाशवाद के समानान्तर प्रतिभासवाद है। एक बार जब हम स्वीकार कर लेते हैं कि ज्ञान प्रतिभासक होता है तो ज्ञान के आलम्बन चाहे क्षणभंगुर हों या स्थिर, अथवा वह निरालम्ब ही क्यों न हो, उसके प्रतिभासक चरित्र पर कोई अन्तर नहीं पड़ता। यदि सैद्धान्तिक निर्धारण की दृष्टि से अन्तर भी किया जाय तो वह यह हो सकता है कि स्थिर आलम्बनों का प्रतिभास अपने आलम्बन का प्रतिनिधि होता है, लेकिन क्षणिक आलम्बन का प्रतिभास चूँकि अपने आलम्बन का सहजीवी नहीं होता इसलिए उसे वैकल्पिक प्रतिरूप अथवा 'सरूप' कहा जा सकता है। नीलाकार विज्ञान, वास्तव में, नील वस्तु का 'सरूप' ही है। इस तरह प्रतिभासवाद का सामान्यीकरण केवल इस तथ्य को पूर्वगृहीत करता है कि प्रत्येक ज्ञानात्मक स्थिति आवश्यक रूप से आत्मसंवित् होती है। आत्मसंवित्ति के अभाव में इस बात का कोई अर्थ नहीं रह जाता कि ज्ञान किसी न किसी रूप में विषय को प्रतिभासित करता है।[51] जो दार्शनिक ज्ञानात्मक स्थितियों को आत्मसंवित्परक नहीं मानते उनकी ज्ञानमीमांसा परप्रकाशवाद, निराकारवाद और सविषयतावाद की मूलभूत दृष्टियों को अपना कर अग्रसारित होती है। इसके विपरीत वैसे बौद्ध दार्शनिक, जो ज्ञान को स्वरूपत: आत्मसंवित् मानते हैं, उनकी ज्ञान-मीमांसा परप्रकाशवाद, निराकारवाद और सविषयतावाद की मूलभूत दृष्टियों को अपना कर अग्रसारित होती है। इसके विपरीत वे बौद्ध दार्शनिक, जो ज्ञान को स्वरूपत: आत्मसंवित्परक मानते हैं, उनकी ज्ञानमीमांसा स्वप्रकाशवाद, साकारवाद और अवस्तुवाद को लेकर आगे बढ़ती है। वस्तुत: उपर्युक्त दोनों दृष्टियाँ भारतीय दर्शन के ज्ञानमीमांसीय चिन्तन की आधारभूत दो समानान्तर दृष्टियाँ हैं जो ज्ञान के करण एवं विषय पक्ष की व्याख्या अपने-अपने तरीके से करते हुए प्रत्यक्ष को तदनुरूप ही अवधारणात्मक मूल्य प्रदान करती हैं।

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ

1 **न्यायकोश:** भीमाचार्य, पृ. 159 - उपजीव्यं च द्विविधं। स्वसत्ता प्रयोजकत्वम्, स्वज्ञानप्रयोजकत्वम् च। उपजीव्योपजीवकभावश्च ज्ञान सत्त्वयो: प्रयोज्यप्रयोजक भाव:। यथा एकस्यान्यसत्ताप्रयोजकत्वम् अपरस्य च तत्प्रयोज्यसत्ताकत्वम्। एवम् अन्यज्ञानप्रयोजकत्वम् अन्याधीनं ज्ञानविषयत्वम्।

2. कथावत्थु : सम्पा. जगदीश काश्यप, पृ. 374

3. अभिधम्मत्थसङ्गहो - 4/8

4. अभिधर्मकोश, पृ. 20, उद्धृत - बौद्ध विज्ञानवाद (पी.टी.राजू.) हिन्दी अनु. यशदेव शल्य, पृ. 20, 1958 (प्रका. - अखिल भारतीय दर्शन प्ररिषद्)

5. अभिधर्मकोश, 1/2
6. वही, 2/46 - प्रतिक्षणं चापि संस्कृतस्यैतानि लक्षणानि युज्यन्ते, विनापि द्रव्यान्तर कल्पनया। कथमिति? प्रतिक्षणमभूत्वाभाव उत्पादः, भूत्वाऽभावो व्ययः, पूर्वस्यापूर्वस्योत्तरोत्तर क्षणानुबन्ध स्थिति, तस्या विसदृशत्वं स्थित्यन्यथात्वमिति।
7. वही, 2/47, 3/18 - वसुबन्धु ने धर्म संकेत का अभिप्राय ही प्रतीत्यसमुत्पाद प्रतिपादित किया है।
8. वही, 2/61 - चत्वारः प्रत्यया उक्ताः। हेत्वाख्याः पंचहेतवः। यद्यपि अभिधार्मिक बौद्ध दर्शन में ज्ञानोत्पत्ति के प्रति चारों प्रत्ययों को कारण सामग्री के रूप में सामान्य रूप से स्वीकार किया गया है लेकिन तदन्तर महायान दर्शन में इनकी व्याख्याएँ बदलती रही हैं।
9. परयूथ्य दार्शनिकों यथा नैयायिक-मीमांसकों की ज्ञानोत्पत्ति सम्बन्धी क्रियामीमांसीय व्याख्या में एक विरोधाभास दिखाई पड़ता है। उदाहरण के लिए कारक-सिद्धान्त के अनुसार सकर्मक क्रियाओं का फल कर्म में आश्रित होता है और अकर्मक क्रियाओं का व्यापार कर्त्ता में आश्रित होता है। अब जानना (ज्ञान) एक सकर्मक क्रिया ही है लेकिन नैयायिक ज्ञान का आश्रय प्रमाता को ही मानते हैं जो कर्ता-स्थानीय है। मीमांसक यद्यपि ज्ञातता रूपी धर्म का आश्रय कर्म-स्थानीय घटादि पदार्थों को ही मानते हैं लेकिन ज्ञातता-सिद्धान्त की अपनी कठिनाइयाँ हैं।
10. **अभिधर्मकोश** 3/20 - त्रयाणां सन्निपाताज्जाता इन्द्रियार्थ विज्ञानानाम्।
11. वही, 1/45 - तद्विकारविकारित्वादाश्रययाश्चक्षुरादयः।
12. वही, 1/42 - चक्षुपश्यति रूपाणि सभागं न तदाश्रितम्। विज्ञानं दृश्यते रूपं न किलान्तरितं यतः।। - वैभाषिकों की यह ऐसी मान्यता है जिसका विरोध प्रायः सभी परवर्ती बौद्ध सम्प्रदायों के द्वारा किया गया है और अन्ततः उसको परिष्कृत ही कर दिया गया।
13. वही, 1/43 - चक्षुः श्रोतमनोऽप्राप्तविषयंत्रयमन्यथा।
14. वही, भाष्य - 1/42 - यस्मात् किल रूपं कुड्यादिव्यवहितं न दृश्यते। वही, स्फुटार्थ - विस्तरः - तेषां चक्षुरादीनां विकारस्तद्विकारः, तद्विकारेण विकारः। तद्विकारविकारः स एषामस्तीति तद्विकार विकारीणि विज्ञानानि, तद्भावः तद्विकारविकारित्वम्।
15. **प्रमाणवार्तिक** (मनोरथनन्दी) - 2/3 - निराकारबुद्धिवादिवैभाषिकमते ... 1
16. **अभिधर्मकोश भाष्य** - 1/42 - यदि हि विज्ञानं पश्येत्, तस्याप्रतिघत्वात् कुड्यादि प्रतिघातो नास्ति, इत्यावृत्तमपि रूपं पश्येत्।
17. द्रष्टव्य, वही, 1/50
18. **अभिधर्मकोश**, स्फुटार्थ (द्वारिकादास सं.) पृ. 254 - सूत्रे - त्रीणीमानिभिक्षवः संस्कृतस्य संस्कृत लक्षणानि। कतमानि त्रीणि? संस्कृतस्य भिक्षवः उत्पादोऽपि प्रज्ञायेत्, व्यायोऽपि प्रज्ञायेत, स्थित्यन्यथात्वमपि।
19. अभिधर्मकोश - 2/45
20. अभिधर्मकोश, स्फुटार्थ (द्वारिकादास सं.) पृ. 261 - तस्मादन्त्यशब्दार्चिः क्षणप्रभृतिनामुत्पादव्ययावेव द्वे लक्षणे इत्यभिप्रेयेते।

21. अभिधर्मकोश भाष्य (संग्रह श्लोक) - 2/46, जातिरादि: प्रवाहस्य व्ययश्छेद: स्थितिस्तु स:। स्थित्यन्यथात्वं तस्यैव पूर्वापरविशिष्टता।। जातिरपूर्वोभाव: स्थिति: प्रबन्धो व्ययस्तदुच्छेद:। स्थित्यन्थात्वमिष्टं प्रबन्धपूर्वापरविशेष: इति।।

22. वही - क्षणिकस्य हि धर्मस्य विना स्थित्या व्ययोभवेत्। न च व्येत्येव तेनास्य वृथा तत्परिकल्पना।।

23. अभिधर्मकोश भाष्य 2/50 (द्वारिकादास सं.) पृ. 280, संस्कृतस्य हि धर्मस्य स्वभाववर्ज्या: सर्वधर्मा: कारणहेतु: उत्पादं प्रति अविघ्नभावावस्थानात्।

24. वही, 2/50, सहभूर्ये मिथ:फला - भाष्य - मिथ: पारम्पर्येण ये धर्मा: परस्परफलास्ते परस्पर: सहभूहेतुर्यथाकथम्।

25. अभिधर्मकोश, स्फुटार्थ (द्वारिकादास सं.) पृ. 290 - सहोत्पन्नयोर्हेतुफलभावलक्षणो न्यायो न दृष्ट:। पूर्व हि बीजं पश्चादङ्कुर:, पूर्वमभिघात: पश्चाच्छब्द इति।

26. अभिधर्मकोश भाष्य, वही, पृ. 290 एतद्धि हेतुहेतुमतो लक्षणमाचक्षते हेतुका: - यस्य भावाभावयो: यस्य भावाभावो नियमत:, स हेतु, इतरो हेतुमानिति।

27. अभिधर्मकोश (स्फुटार्थ) - द्वारिकादास सं., पृ. 290 - सहोत्पन्नानां हेतु फलभाव इष्यते। तद्यथा - चक्षु: सहोत्पन्नमपि चक्षुर्विज्ञानेन तदुत्पत्तौ हेतुर्भवति। परस्परं तु कथम्?

28. वही, पृ. 474, तत्रापि पूर्वमिन्द्रियार्थौ पश्चाद् विज्ञानमिति। प्रथमक्षणोत्पन्नाविन्द्रियार्थौ, विज्ञानं तु द्वितीये क्षण इति।

29. वही, पृ. 474 - जनकधर्मातिक्रमाच्चायुक्तमिति।

30. वही, पृ. 117 - विभाषायामप्युच्यते - "चक्षुसम्प्राप्तं चक्षुर्विज्ञानानुभूतं दृष्टमित्युच्यते इति। तस्याच्चक्षु: पश्यतीत्येवोच्यते, न विजानातीति। विज्ञानं तु सान्निध्यमात्रेण रूपं विजानातीत्युच्यते। यथा सूर्यो दिवसकर: इति।"

31. वही, पृ. 118 - अत्र सौत्रान्तिका आहु - किमिदमाकाशं खाद्यते। ... उपचारा क्रियन्ते - चक्षु: पश्यति, विज्ञानं विजानातीति नात्राभिनिवेष्टव्यम्।

32. द्रष्टव्य - हेमन्त कुमारा गाँगुली - **फिलॉसफि ऑफ लॉजिकल कॉन्स्ट्रक्शन** - संस्कृत पुस्तक भण्डार, कलकत्ता, पृ. 71

32क. ज्ञानश्रीमित्र, **निबन्धावली**, पृ. 350 - कल्याणकामतामात्रमेतत्।

33. **मध्यान्तविभागसूत्रभाष्य टीका** : सम्पा. भट्टाचार्य एवं टुच्ची, पृ. 21, वर्तमानालम्बन ग्रहणे च क्षणभङ्ग बाध:।

34. न अविद्यमानस्य स्वरूपेण दर्शनम्, हेतुत्वेन च ज्ञानात् पूर्ववत्त्वम्, पूर्ववत्व च क्षणिकतया न ज्ञानकालेऽस्तिता - उद्धृत - **कॉन्सेप्ट ऑफ सारूप्य इन बुद्धिस्ट फिलासफि** - प्रो. ए.के. चटर्जी : भारती - हीरक जयन्ती अंक, बी.एच.यू., 1984, पृ. 44

35. **प्रमाणवार्तिक** (मनोरथनन्दी) - 2/417-18, यदाऽर्थस्तदा न ज्ञानम्, यदा ज्ञानं तदा नार्थ इति कुतो व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावस्तयो:।

36. अथ यदैव अस्ति तदैव ग्रहणं हेतुभावं अन्तरेणाऽपि ... न समानकालयोश्चहेतुता तथा अप्रतीते:, असम्बन्धग्रहण च सर्व एव गृह्यते। - उद्धृत प्रो. ए.के. चटर्जी, वही, पृ. 45

37. समानकालयोश्च हेतुफल अयोगात्।

38. **शचेरबारवात्स्की** (सेन्ट्रल कॉन्सेप्शन ऑफ बुद्धिज्म., पृ. 56) ने इस प्रश्न को उपस्थापित करते हुए अभिधर्मकोश का सन्दर्भ देकर विज्ञान और वस्तु में सारूप्य की अवधारणा द्वारा उत्तर देने का प्रयास किया है, परन्तु यह स्पष्ट नहीं किया गया है कि यह उत्तर वैभाषिक सम्मत है अथवा सैत्रान्तिक सम्मत। इससे एक भ्रान्त दृष्टि का प्रचार हुआ कि वैभाषिकों को भी विज्ञान और वस्तु में सारूप्य मान्य था। परम्परा वैभाषिकों को निराकार ज्ञानवादी के रूप में स्वीकृत करती है। यदि वैभाषिक निराकार ज्ञानवादी हैं तो उनके मत में विज्ञान और वस्तु के बीच सारूप्य के लिए कोई अवकाश नहीं बनता। उनका मत इन्द्रियों की साकारता का है। परन्तु बसुबन्धु कृत **अभिधर्मकोश भाष्य** के अष्टम् कोशस्थान में 'पुद्गल विनिस्चय' प्रकरण के अन्तर्गत इस प्रकार का कथन मिलता है जो प्रकृत प्रश्न की अन्विति को और अधिक उलझा देता है-"यत्तर्हि विज्ञानं विजानाति" इति सूत्र उक्तम्, किं तत्र विज्ञानं करोति? न किंचित करोति। यथा तु कार्य कारणमनुविधीयत इत्युच्येत, सादृश्येनात्मलाभादकुर्वदपि किंचित्। किं पुनरस्य सादृश्यम्? तदाकारता। अतएव तदिन्द्रियादप्युत्पन्नं विषयं विजानातीत्युच्येत, नेन्द्रियम्।" भाष्य की इन पंक्तियों में स्पष्ट रूप से 'सादृश्य' पद से विज्ञान में वस्त्वाकारता का प्रतिपादन किया गया है। लेकिन यदि ऐसा ही है तो 'चक्षुपश्यति रूपाणि सभागं न तदाश्रितम् - 1/42 की वैभाषिक व्याख्या से इसकी अन्विति नहीं बैठती।

39. **सर्वसिद्धान्तसंग्रह**, पृ. 13 - नील पीतादिभिश्चित्रैर्बुद्ध्याकोरैरिहान्तरैः। सौत्रान्तिकमते नित्यं बाह्यार्थस्त्वनुमीयते।। तथा द्रष्टव्य - प्रमाणवार्तिका- लङ्कार भाष्य - 2/231-439 - नित्यानुमेये दृष्टान्तः केन सिध्यति तत्त्वतः। अनुमानान्तरासिद्धौ सेयमन्धपरम्परा।।

40. ज्ञानश्रीमित्र निबन्धावली, पृ. 24 - अथ सौत्रान्तिकस्येदमुभयम-समंजसमितीयन्मात्रमुच्यते, तदपि नास्ति। साकारवदनोदयपक्षस्थितौ हि द्वितीयक्षणानुवृत्तावप्यर्थस्य जड़तया प्रकाशानुपपत्तेः विपर्ययसरूपस्वरूपसंवेदनमेव ज्ञानस्य विषयवेदनम्। एवं च न वर्तमानानुरोधः, अतीतेऽपि तत्प्रत्ययासत्तेरप्रच्युतेः। न चातिप्रसंगः, विषयान्तरेणापि सारूप्यसमर्पणात्।

41. **मध्यान्तविभाग टीका** - 1/7 - उत्पद्यमानमुत्पन्नं वा विज्ञानं विषयालम्बेत? तत्रोत्पद्यमानं विषयं नालम्बेत, उत्पद्यमानस्यासत्त्वात्। नोत्पन्नमपि, विषयप्रतिभास त्मनोत्पन्नत्वात्। न च विषयप्रतिभासात्मनोत्पत्तिं युक्त्वा विज्ञानस्यान्या क्रियास्ति यां कुर्वद विज्ञानं विषयमालम्बत इत्युच्यते।

42. **प्रमाणवार्तिक** - 2/247 - भिन्नकालं कथं ग्राह्यमिति चेद् ग्राह्यतां विदुः। हेतुत्वमेव युक्तिज्ञा ज्ञानाकारार्पणक्षमम्।।

43. **प्रमाणवार्तिक** - 2/224 - हेतुभावादृते नान्या ग्राह्यता नाम केचन। तत्र बुद्धिर्यदाभासा तस्याः तद्ग्राह्यमुच्यते।। - 2/370 - तद्धेतुत्वेन तुल्येऽपि तदन्यैर्विषये मतम्। विषयत्वं तदंशेन तद्भावे न तद्भवेत।।

44. **न्यायबिन्दु** 20-21 - अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणम्। तद्वशादर्थप्रतीतिसिद्धेरिति।

45. प्रज्ञाकरगुप्त : **प्रमाणवार्तिकालंकार भाष्य** (स्वामी योगीन्द्रानन्द) - 1048 - अन्तरेणापि बाह्यार्थं प्रतिभासो न दुष्यति। विना तु प्रतिभासेन बाह्यं बाह्यं सदा भवेत्।।

46. **न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका** (सम्पा. - राजेश्वर शास्त्री द्राविड़) पृ. 153, तस्मान्निराकारं ज्ञानमर्थमात्मनो भिन्नं गोचरयति। 2. आत्मतत्त्वविवेक (भागीरथ ठक्कुर), पृ. 523 - निराकारत्वाद्बुद्धिनां विषयकृत एव विशेषः। 3. शाबरभाष्य - निराकाराचनोबुद्धि आकारवान् बाह्योऽर्थः।

47. विश्वम्भर पाही - **वैशेषिक पदार्थव्यवस्था का पद्धतिमूलक विमर्श**, पृ. 28, दर्शन-विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।

48. दिङ्नाग - विकल्पयोनयः शब्दाः विकल्पाः शब्दयोनयः।

49. धर्मोत्तरप्रदीप (दलसुखभाई मलवणिया), पृ. 82 - यदि ज्ञानमर्थसरूपं न स्यात् किन्तु निराकारं बोधैकरूपं तदाऽनुभवैकरूपतया तदविशिष्टं, सर्वत्र परिच्छेद्यतया कर्मस्थानप्राप्ते नीलपीतादाविति। नीलस्यैवेदं संवेदनम् इदं पीतस्यैवेत्यनुभवसिद्धः प्रतिकर्मविभागो हीयेत।

50. द्रष्टव्य - **प्रमाणवार्तिक** - दृश्य-दर्शन प्रत्यासत्ति - 2/324-329

51. ''सारूप्य एव स्वसंवेदन' दिङ्नाग और, धर्मकीर्ति के प्रत्यक्ष की अवधारणा के दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पहलू हैं। इन दोनों के परस्पर सम्बन्ध पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। - द्रष्टव्य - **प्रमाणवार्तिक** - 2/423-484

नव्यन्याय में उपमान प्रमाण

बदरीनाथ शुक्ल

बीसवीं सदी के महान नैयायिक आचार्य बदरीनाथ शुक्ल के देहावसान के महीने-दो महीने बाद मुझे उनके अकादमिक जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में कुछ जानकारी प्राप्त करने हेतु उनके घर और उसमें बंद पड़े एक कमरे में जाने का अवसर प्राप्त हुआ। वहाँ मुझे उनके जीवन-वृत्त से सम्बन्धित लिखित रूप में तो कुछ विशेष सामग्री प्राप्त नहीं हुई लेकिन दो काम की चीज़ें प्राप्त हुईं। उनमें से एक यह निबन्ध है जो यथावत् प्रकाशित किया जा रहा है और दूसरी 'सोपज्ञ वृत्ति', जिसे शुक्ल जी ने अपनी ही कृति 'शतश्लोकी' पर बाद में लिखा था। इस सोपज्ञवृत्ति की पाण्डुलिपि (छायाप्रति) को हमने गुरुवर आचार्य रेवतीरमण पाण्डेय को सौंप दिया था जिसका वे सम्प्रति सम्पादन कर रहे हैं। – अम्बिकादत्त शर्मा

नव्यन्याय में उपमान प्रमाण की चर्चा करने से पूर्व प्राचीन न्याय में उपलब्ध उपमान चर्चा को दृष्टिगत कर लेना उचित और आवश्यक है। क्योंकि उसके बिना यह समझना कठिन होगा कि उपमान के सम्बन्ध में प्राचीन न्याय की दृष्टि से उस सम्बन्ध में नव्य न्याय की दृष्टि में क्या और कितना अन्तर है तथा प्राचीन न्याय की उक्त विषय के प्रतिपादन की शैली से नव्यन्याय की प्रतिपादन-शैली में क्या विशेषता है। अत: पहले हम प्राचीन न्याय के उपमान सम्बन्धी विचारों को ही संक्षेप में प्रस्तुत करना चाहेंगे।

सर्वमूर्धन्य प्राचीन नैयायिक महर्षि गौतम ने न्याय दर्शन के प्रथम सूत्र में उन पदार्थों का उल्लेख किया है जिनके तत्त्वज्ञान से नि:श्रेयस् (दु:ख की आत्यन्तिक निवृत्ति रूप मोक्ष) की प्राप्ति होती है। उस सूत्र में सबसे पहले प्रमाण का उल्लेख किया गया है, जिससे सूत्रकार का यह आशय विदित होता है कि अन्य सभी पदार्थों का अस्तित्व प्रमाण पर ही निर्भर है। गङ्गेशोपाध्याय ने, जो नव्य-न्याय के प्रवर्तक माने जाते हैं, अपने ग्रन्थ **तत्त्वचिन्तामणि** में प्रत्यक्ष खण्ड के आरम्भ में 'प्रमाणाधीना सर्वेषां व्यवस्थिति:' (सभी पदार्थों की व्यवस्था प्रमाणाधीना है) यह कहकर गौतम के उक्त आशय को संकेतित किया है। आगे चलकर महर्षि ने 'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दा: प्रमाणानि' (1,1,3) सूत्र द्वारा प्रमाण का चार श्रेणियों में वर्गीकरण किया है–प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द।

व्याख्याकारों ने इस सूत्र को प्रमाण का लक्षक और विभाजक दोनों माना है। 'प्रमाण' शब्द को प्र उपसर्गक ज्ञानार्थक 'मा' धातु से करणार्थक 'ल्युट्' प्रत्यय से निष्पन्न मानकर 'प्रमाकरणं प्रमाणम्' 'प्रमा का करण प्रमाण है' इस निर्वचन द्वारा प्रमाण शब्द को ही व्याख्याकारों ने प्रमाण लक्षण का सूचक बताया है।

उसके बाद महर्षि ने प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण के लक्षण तथा भेद का वर्णन कर 'प्रसिद्ध साधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्' (1,1,6) इस सूत्र से उपमान प्रमाण का लक्षण प्रतिपादित किया है।

वात्स्यायन ने 'प्रसिद्ध साधर्म्य' शब्द में 'प्रसिद्धेन साधर्म्यम्' इस प्रकार तृतीया तत्पुरुष समास मानकर सूत्र की व्याख्या करते हुए कहा है–'प्रज्ञातेन सामान्यात् प्रज्ञापनीयस्य प्रज्ञापनमुपमानम्' प्रज्ञात का अर्थ है–ज्ञातनामा पदार्थ, जैसे गौ, साधर्म्य का अर्थ है–सादृश्य, जैसे शृङ्ग, पुच्छ, खुर आदि में विद्यमान शृङ्गत्व आदि जिसका गौ और गवय दोनों के साथ परम्परा-सम्बन्ध है। साध्य का अर्थ है–प्रज्ञापनीय। प्रकृत में वह 'अर्थ विशेष के साथ शब्द विशेष का शक्ति नामक सम्बन्ध' है। साधन शब्द का अर्थ है सिद्धि-ज्ञान, क्योंकि वह स्वार्थ णिच् प्रत्ययान्त ज्ञानार्थक 'साध्' धातु से भावार्थक 'ल्युट्' प्रत्यय से निष्पन्न है। साधर्म्य शब्द में लगी पंचमी विभक्ति का अर्थ है अपेक्ष्य अपेक्षाकरण। इस प्रकार 'प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनम्' का अर्थ है–प्रसिद्ध अर्थ के सादृश्य की अपेक्षा से उत्पन्न होने वाला अर्थ-विशेष के साथ शब्दविशेष के शक्ति सम्बन्ध का ज्ञान। 'उपमानम्' से पूर्व यत: और तत् शब्द का अध्याहार करने से सूत्र का यह अर्थ निर्गत होता है–प्रसिद्ध अर्थ के साधर्म्य-सादृश्य की अपेक्षा से अर्थ-विशेष में शब्द-विशेष के शक्ति सम्बन्ध का ज्ञान जिससे सम्पन्न हो वह उपमान है। वात्स्यायन ने इसे 'यथा गौ: एवं गवय:' जैसे गौ होता है वैसा गवय होता है, अर्थात् गो-सदृश गवय शब्द का वाच्य है, इस रूप में उदाहृत किया है। फलत: वात्स्यायन की दृष्टि में अदृष्ट गवय ग्रामस्थ पुरुष के प्रति दृष्ट-गवय में वनस्थ पुरुष द्वारा प्रयुक्त उक्त वाक्य ही गो सदृश गवय में गवय शब्द की शक्ति का ग्राहक उपमान प्रमाण है।

वात्स्यायन का आशय यह प्रतीत होता है कि जब किसी ऐसे ग्रामस्थ पुरुष का, जिसने कभी गवय नहीं देखा है, किसी गवयदर्शी पुरुष से परिचय होता है और वन्य पशुओं की चर्चा के प्रसङ्ग में गवय की चर्चा होने पर ग्रामस्थ पुरुष वनस्थ पुरुष से पूछता है कि 'कीदृशो गवय: भवति'–कैसे पशु को गवय कहा जाता है, तब उत्तर में वनस्थ पुरुष उसे बताता है–'गो सदृशो गवय: भवति' गो सदृश पशु को गवय कहा जाता है। कालान्तर में वनस्थ पुरुष जब कभी वन में जाने पर गो-सदृश पशु को देखता है तब वनस्थ पुरुष के 'यथा गौ: एवं गवय:' इस पूर्वश्रुत वाक्य का स्मरण होने पर उसे गो-सदृश पशु में गवय शब्द के शक्ति सम्बन्ध का बोध होता है। यह बोध ही उपमिति नामक प्रमा है। वनस्थ पुरुष का 'यथा गौ: एवं गवय:' यह वाक्य ही उपमान प्रमाण है। वन में गये ग्रामस्थ पुरुष को पशु विशेष में होने वाला सादृश्य-दर्शन उसका सहायक है। गो सदृश गवय में गवय शब्द के शक्ति सम्बन्ध का बोध उत्पन्न करने में सादृश्य दर्शन का मुखापेक्षी होने से वनस्थ पुरुष का उक्त वाक्य शब्द प्रमाण के रूप में मान्य न होकर उपमान नामक अतिरिक्त प्रमाण के रूप में मान्य होता है। यह बात वात्स्यायन के 'यथा गौ: एवं गवय: इत्युपमाने प्रयुक्ते सामान्य

धर्ममर्थमुपलभ्यामानोऽस्य गवयशब्दः संज्ञेति, संज्ञासंज्ञिसम्बन्धं प्रतिपद्यते' इस वाक्य से सुस्पष्ट है।

न्यायमञ्जरी में जयन्त भट्ट ने इस मत को वृद्ध नैयायिक मत कहकर प्रस्तुत किया है।

न्यायवार्तिक में उद्योतकर ने सूत्रगत प्रसिद्ध साधर्म्य शब्द की दो व्युत्पत्तियाँ बतायी हैं–'प्रसिद्धं साधर्म्यो गवयः' जिसका साधर्म्य प्रसिद्ध-प्रत्यक्ष दृष्ट हो अथवा जिसमें प्रसिद्ध का साधर्म्य हो वह प्रसिद्ध साधर्म्य है। प्रकृत में गवय प्रसिद्ध साधर्म्य है क्योंकि वन में जाने पर ग्रामस्थ पुरुष को गवय गत साधर्म्य का प्रत्यक्ष होता है तथा उसमें प्रसिद्ध-ग्रामस्थ पुरुष को प्रत्यक्ष ज्ञात गौ का साधर्म्य है। जब गवय गो-सदृश रूप में दृष्ट होता है तब गवय में गवय शब्द की वाच्यता के बोध रूप उपमिति का जन्म होता है। अतः शब्दार्थ सम्बन्ध के बोध रूप उपमान उपमिति में प्रसिद्ध साधर्म्य के आशय रूप में गवय के प्रयोजक होने से उसे प्रसिद्ध साधर्म्य शब्द से लगी पंचमी विभक्ति से गवय प्रयुक्त बताकर वार्तिककार ने वन में गये ग्रामस्थ पुरुष को होने वाले गवय में गो सादृश्य दर्शन को उपमान प्रमाण बताया है और उससे होने वाले वनस्थ पुरुष के अतिदेश वाक्यार्थ के स्मरण को उसका सहायक बताया है। यह बात (आगमाहित संस्कार स्मृत्यपेक्षं सारूप्यज्ञानमुपमानम्' यदा ह्यनेन श्रुतं भवति यथा गौरियं गवय इति, प्रसिद्धे गौ–गवय साधर्म्ये पुनर्गवयसाधर्म्यं पश्यति प्रत्यक्षं ततस्तस्य भवति–अयं गवय इति, समाख्यासम्बन्ध प्रतिपत्तिः) इस वार्तिकग्रन्थ से स्पष्ट है। जयन्त भट्ट ने इस वार्तिकमत को **न्यायमञ्जरी** में अद्यतनों का मत कहकर प्रस्तुत किया है।

तात्पर्यटीका में वाचस्पति मिश्र ने वार्तिककार के मत का समर्थन करते हुए कहा है–(न चासौ वाक्यमात्रसहायौऽप्रत्यक्षीकृत-गौ-सदृश गवयत्वजातिमत्पिण्डोऽसौ गवयाख्य इति प्रतिपत्तुमर्हति। न च वाक्यं विना प्रत्यक्षमात्रात्, तस्माद् आगमप्रत्यक्षाभ्यामन्यदेवेदम् आगम स्मृतिसहितं सादृश्यज्ञानमुपमानाख्यं प्रमाणमास्थेयम्।) आशय यह है कि गौ-सदृश गवय-पिण्ड का प्रत्यक्ष न होने तक केवल 'यथा गौः एवं गवयः' इस वाक्य से गवय के परोक्ष होने के कारण उसमें गवय शब्द की वाच्यता का ज्ञान नहीं होता। अतः अतिदेशवाक्य किंवा उसके अर्थ के स्मरण से सहकृत सादृश्य ज्ञान ही उपमान प्रमाण है, और वह प्रत्यक्ष तथा आगम दोनों से भिन्न है। गङ्गेश ने **तत्त्वचिन्तामणि** के उपमानखण्ड में इस मत को जरन्नैयायिक जयन्त भट्ट आदि का मत कहा है।

न्यायकुसुमाञ्जलि में उदयनाचार्य ने टीकाकार द्वारा समर्थित वार्तिककार के मत को ही अनुमोदित करते हुए कहा है कि–'यथा गौस्तथा गवय इति श्रुतादिदेशवाक्यस्य गौ-सदृशं पिण्डमनुभवतः स्मरतश्च वाक्यार्थमसौ गवयशब्दवाच्य इति भवति मतिः।' आशय यह है कि जिसने 'गौ सदृश गवय होता है', यह वनस्थ पुरुष का वाक्य सुन रखा है उसे गौ-सदृश पिण्ड का दर्शन और अतिदेश वाक्यार्थ का स्मरण होने पर गवय में गवय शब्द की वाच्यता का बोध होता है। आचार्य ने यह भी स्पष्ट किया है कि उस बोध को उक्त वाक्य मात्र का फल नहीं माना जा सकता। ऐसा मानने पर जिसने गवय नहीं देखा है उसे भी केवल उक्त

वाक्य से गवय में गवय शब्द के शक्तिग्रह की आपत्ति होगी। इसी प्रकार उसे गौ सदृश पिण्ड के प्रत्यक्ष मात्र का भी फल नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर जिसने उक्त अतिदेश वाक्य को कभी नहीं सुना है उसे भी गो सदृश पिण्ड के दर्शन मात्र से गवय में गो शब्द के शक्तिग्रह की आपत्ति होगी।

आचार्य ने यह भी स्पष्ट किया है कि उक्त शक्ति-बोध को उक्त अतिदेश का वाक्य और गौ सदृश पिण्ड से सम्बद्ध नेत्र इन दोनों प्रमाणों के समाहार का भी फल नहीं माना जा सकता, क्योंकि दोनों में यौगपद्य नहीं है। वाक्य के समय गौ-सदृश पिण्ड के साथ नेत्र का सम्बन्ध नहीं है और नेत्र सम्बन्ध के समय उक्त वाक्य नहीं है। स्मरण द्वारा वाक्य एवं वाक्यार्थ का नेत्र-पिण्ड के संयोग के साथ यौगपद्य होने पर भी नेत्र-सम्बद्ध पिण्ड में गौ-सादृश्य का दर्शन न होने की स्थिति में उक्त बोध नहीं होता, और यदि सादृश्य दर्शन होता है तो उसी से उक्त बोध की उपपत्ति हो जाने से उसे इन्द्रियजन्य मानने का कोई औचित्य नहीं हो सकता।

अतिदेश वाक्य के अर्थबोध रूप फल और गौ-सदृश पिण्ड से सम्बद्ध इन्द्रिय के सादृश्य दर्शन रूप फल से समाहार द्वारा भी उक्त बोध को शब्द और प्रत्यक्ष का फल नहीं माना जा सकता क्योंकि ऐसा मानने पर अनुमान और शब्द भी पृथक् प्रमाण न होकर प्रत्यक्ष में अन्तर्भूत हो जायगा। क्योंकि अनुमिति लिङ्गपरामर्श द्वारा नेत्रजन्य मानी जा सकती है और शाब्दबोध पद-पदार्थज्ञान द्वारा श्रोत्र-जन्य माना जा सकता है।

साथ ही यह भी ज्ञातव्य है कि इन्द्रियजन्य ज्ञान इन्द्रिय का व्यापार रूप सहकारी उसी समय तक होता है जब तक अर्थ के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष होता है। अत: गवय में गवय शब्द के शक्ति-ग्रह के सादृश्य ज्ञान द्वारा उसे इन्द्रियजन्य नहीं माना जा सकता क्योंकि गौ-सदृश-पिण्डदर्शनजन्य संस्कार से गौ-सदृशपिण्ड का स्मरण तथा अतिदेश वाक्यार्थ का स्मरण होने पर गवय-पिण्ड के साथ नेत्र का सम्बन्ध न रहने पर भी गवय में गवय शब्द का शक्तिग्रह होता है। अत: अतिदेश वाक्यार्थ के स्मरण से सहकृत गवयगत गौसादृश्यज्ञान को उपमान नामक अतिरिक्त प्रमाण मानना आवश्यक है।

आचार्य ने एक और मत प्रस्तुत कर उसकी आलोचना की है। वह मत इस प्रकार है—

गवय में गवय शब्द का शक्तिग्रह 'गो सादृशो गवय:' इस अतिदेश वाक्य से ही हो जाता है। ग्रामस्थ पुरुष जब वन में जाता है और गो सदृश पशु को देखता है तब उसे इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा होती है कि जो गो-सदृश पशु गवय पद के वाक्य रूप में वनस्थ पुरुष क वाक्य से ज्ञात हुआ था वही यह पशु है। इस मत के समान ही दूसरा मत यह है कि ग्रामस्थ पुरुष को 'गो सदृशो गवय:' इस वनस्थ पुरुष के वाक्य को सुनने के बाद गवय शब्द में गो सदृश-वाचकता का निश्चय अनुमान से होता है। अनुमान का आकार इस प्रकार है,—गवय शब्द गो-सदृश का वाचक है, क्योंकि गो-सदृश में उस शब्द का प्रयोग होता है। शाब्दबोधोपयिक अन्य शब्दार्थ सम्बन्ध के अभाव में जिस अर्थ में जिस शब्द का प्रयोग

होता है वह शब्द उस अर्थ का वाचक होता है। जैसे–गो में गो शब्द के शक्ति-भिन्न सम्बन्ध के अभाव में गो शब्द का प्रयोग होने से गो शब्द गो का वाचक होता है।

इन दोनों मतों के अनुसार उपमान के बिना भी गो-सदृश में गवय शब्द का शक्तिग्रह हो जाने से अतिरिक्त उपमान प्रमाण की कल्पना का कोई आधार नहीं रह जाता। आचार्य ने इन दोनों मतों को यह कहकर निरस्त किया है कि अर्थ में शब्द का प्रयोग उस शब्द के प्रवृत्तिनिमित्त–शक्यतावच्छेदक के आधार पर होता है। और उक्त वाक्य और अनुमान गवय पद के प्रवृत्ति निमित्त को सिद्ध करने में अक्षम हैं, क्योंकि उन दोनों के समय गो-सादृश्य मात्र उपस्थित है, गवयत्वजाति उपस्थित नहीं है। और गो-सादृश्य गवय शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त नहीं हो सकता क्योंकि जिन्हें गो का ज्ञान नहीं है उन्हें गो-सादृश्य का ज्ञान नहीं हो सकता। अत: उसे प्रवृत्तिनिमित्त मानने पर गो को न जानने वाले मनुष्यों द्वारा गवय शब्द का प्रयोग न हो सकेगा।

इस प्रकार ग्रामस्थ गो-ज्ञाता मनुष्य गो-सादृश्य के आधार पर गवय पद का प्रयोग करेंगे और गो को न जानने वाले वनस्थ मनुष्य, जिन्हें गवयत्व रूप से गवय का ज्ञान है, वे गवयत्व के आधार पर गवय पद का प्रयोग करेंगे अत: प्रयोक्ता के भेद से गो-सादृश्य और गवयत्व दोनों गवयपद के प्रवृत्तिनिमित्त हो सकते हैं। इस प्रकार गवयत्व विशिष्ट में गवय पद का शक्तिग्रह वनस्थ पुरुषों को व्यवहार से और ग्रामस्थ पुरुषों को उक्त वाक्य एवं अनुमान से गो-सादृश्यविशिष्ट में गवय पद का शक्तिग्रह हो सकता है। अत: उपमान की कल्पना अनावश्यक है, तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि ऐसा मानने पर ग्रामस्थ पुरुष के प्रति वनस्थ पुरुष द्वारा 'गो-सदृशो गवय:' इस वाक्य का प्रयोग सम्भव न हो सकेगा, क्योंकि वनस्थ पुरुष को गो-सादृश्यविशिष्ट में गवय पद का शक्तिग्रह न होने से गो-सादृश्यविशिष्ट में गवय शब्द का शक्तिग्रह कराना उसके लिए सम्भव नहीं है।

उक्त वाक्य तथा अनुमान के सम्बन्ध में यह भी कहा जा सकता है कि उनसे गो-सदृश में गवय शब्द का शक्तिग्रह कथमपि सम्भव नहीं है, क्योंकि उससे शक्तिग्रह के सन्दर्भ में यह सन्देह स्वभावत: उत्पन्न होगा कि गो-सादृश्य गवय शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त है या उससे उपलक्षित कोई अन्य धर्म, जैसाकि गन्धवत्व से उपलक्षित पृथिवीत्व पृथिवी पद का प्रवृत्तिनिमित्त होता है। इस सन्देह के कारण ही उक्त वाक्य या उक्त अनुमान द्वारा गवय शब्द के प्रवृत्ति निमित्त का निश्चय नहीं हो सकता।

यदि यह कहा जाय कि 'गो सदृश: गवय:' इस अतिदेश वाक्य-काल में गवयत्व का ज्ञान नहीं होता किन्तु ग्रामस्थ मनुष्य वन में जब गो-सदृश पशु को देखता है तब उसमें गवयत्व का प्रत्यक्ष हो जाता है, तथा उस समय पूर्वश्रुत अतिदेश वाक्य का स्मरण होने पर उस वाक्य से ही गवयत्व विशिष्ट में गवय पद का शक्तिग्रह हो सकता है, क्योंकि उस समय गो-सदृश शब्द की गवयत्व विशिष्ट में लक्षणा हो सकती है, तो यह ठीक नहीं होगा, क्योंकि अतिदेश वाक्य के प्रयोगकाल में ही उससे गो-सदृश में गवयपदशक्यत्व का बोध

हो जाने से वह वाक्य निराकांक्ष हो जाता है। अतः गो-सदृश शब्द की गवयत्वविशिष्ट में लक्षणा मानने का कोई आधार नहीं रहता।

उक्त अनुमान के सम्बन्ध में यह भी कहा जा सकता है कि ग्रामस्थ पुरुष को वन में गो-सदृश में गवयत्व का प्रत्यक्ष ज्ञान होने पर भी उससे गवयत्वविशिष्ट में गवय पद के शक्तिज्ञान के अभाव में गवयशब्द में उक्त हेतु का ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि गवय शब्द में गवय शब्द का शाब्दबोधोपयिक अन्य सम्बन्ध नहीं है, फिर भी गवय में गवय पद का प्रयोग होता है ऐसा ज्ञान असम्भव है।

इस प्रकार आचार्य ने उक्त वाक्य और उक्त अनुमान से गवय में गवय शब्द के शक्तिग्रह की सम्भावना का निराकरण कर उपमान प्रमाण मानने की आवश्यकता सिद्ध की है।

आचार्य ने वनस्थ पुरुष के प्रति ग्रामस्थ पुरुष के 'कीदृशो गवयः' इस प्रश्न वाक्य के सम्भावित अर्थों पर विचार करते हुए यह स्पष्ट किया है कि उक्त प्रश्न वाक्य का यह अर्थ नहीं माना जा सकता कि ग्रामस्थ पुरुष 'कीदृशो गवयः' कहकर गो-सदृश पशु किस शब्द से वाच्य है, यह पूछना चाहता है, क्योंकि वनस्थ पुरुष के द्वारा गवय की चर्चा होने पर सामान्य रूप से ग्रामस्थ पुरुष को गवय पदार्थ का ज्ञान होने पर गवय-पद-वाच्य पशु कैसा होता है, यही पूछना उसके लिए स्वाभाविक है। अतः वनस्थ पुरुष के 'गो-सदृशो गवयः' इस वाक्य से 'यो गो-सदृशः स गवय पदार्थः' जो गो-सदृश होता है उसे गवय कहा जाता है, इस व्याप्ति का बोध नहीं माना जा सकता। फलतः इस व्याप्ति के बल से 'गवय गवय शब्द से वाच्य है, क्योंकि गो-सदृश है' इस प्रकार के अनुमान द्वारा गवय पद के शक्तिग्रह की उपपत्ति नहीं की जा सकती।

गवय पदार्थ का लक्षण क्या है, ग्रामस्थ पुरुष के प्रश्न वाक्य का यह अर्थ मानकर भी यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि वनस्थ पुरुष 'गो सदृशः गवयः' इस उत्तर वाक्य द्वारा ग्रामस्थ पुरुषों के लिए इस व्यतिरेक अनुमान का मार्ग प्रशस्त करता है कि गो-सदृश दीखने वाले पशु का गवय शब्द से व्यवहार करना चाहिए क्योंकि वह गो-सदृश है। गवय शब्द से जिसका व्यवहार नहीं होता वह गो-सदृश नहीं होता, जैसे–हाथी, अश्व आदि, क्योंकि हस्ति-अश्वादि में गवय पद का व्यवहार न होने के दो स्वरूप हो सकते हैं। एक यह कि हस्ति-अश्वादि में गवय शब्द का प्रयोग कभी किसी द्वारा नहीं होता, और दूसरा यह कि कुछ लोगों द्वारा हस्ति-अश्वादि में गवय शब्द का प्रयोग नहीं होता। पहला अर्थ इसलिए सम्भव नहीं है कि काल और व्यावहारिकता के अनन्त होने से यह निश्चय होना असम्भव है कि हस्ति अश्वादि में गवयशब्द का प्रयोग कभी किसी द्वारा नहीं होता। और दूसरे अर्थ को लेने पर कतिपय पुरुषों द्वारा 'जिसमें गवय पद का व्यवहार नहीं होता वह गो-सदृश नहीं होता' यह व्याप्ति व्यभिचारग्रस्त हो जाती है, क्योंकि ऐसे बहुत से पुरुष हो सकते हैं जिनको गो-सदृश गवय में गवय पद के व्यवहार का कभी अवसर न उपस्थित हुआ हो।

उक्त प्रश्न वाक्य का यह अर्थ मानना भी सम्भव नहीं है कि ग्रामस्थ पुरुष 'कीदृशो गवय:' इस वाक्य से 'गवयपदार्थस्य किं लिङ्गम्, केन लिङ्गेन गवय: ज्ञाप्य:' यह पूछना चाहता है, क्योंकि यह पूछना तभी सम्भव हो सकता है जब उसे यह ज्ञात हो कि गवय शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त लिङ्ग द्वारा अनुमेय ही होता है, किन्तु उसे ऐसा निश्चय होने में कोई युक्ति नहीं है। यदि उस प्रश्न का तात्पर्य यह माना जाय कि वह सामान्य रूप से गवय के ज्ञानोपाय को चाहता है, तब तो वनस्थ पुरुष द्वारा यह भी उत्तर दिया जा सकता है कि वन में जाने पर तुम गवय पदार्थ को प्रत्यक्ष जान सकते हो। अथवा वह गवय शब्द के किसी पर्याय शब्द द्वारा भी गवय पदार्थ का ज्ञान करा सकता है। जैसे पिक कौन है? इस प्रश्न के उत्तर में कोकिल शब्द का प्रयोग करके उस प्रश्न का उत्तर दिया जाता है। इस प्रकार उक्त प्रश्न वाक्य के अर्थों का विचार करते हुए आचार्य ने उस प्रश्नवाक्य का यह अर्थ निश्चित किया है कि ग्रामस्थ पुरुष उक्त प्रश्न वाक्य से यह जानना चाहता है कि–'किम्प्रवृत्तिनिमित्तक: गवयशब्द:' अर्थात् गवय शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त क्या है? अत: इस प्रश्न के उत्तर में वनस्थ पुरुष जब 'गो-सदृशो गवय:' इस वाक्य का प्रयोग करता है तो यह मानना होगा कि वह अपने उत्तर वाक्य से गवय पद के प्रवृत्ति निमित्त का बोध कराना चाहता है। और यह बोध उसके उक्त वाक्य से अथवा उक्त प्रकार के अनुमान से सम्भव नहीं है। क्योंकि गो सादृश्य को गवय पद का प्रवृत्ति निमित्त मानने पर गो को न जानने वाले वनस्थ पुरुष द्वारा गवय पद के प्रयोग की अनुपपत्ति होगी और गवयत्व उक्त अतिदेश वाक्य अथवा उक्त अनुमान के प्रयोग काल में ज्ञात नहीं है। अतएव उनके द्वारा गवयत्व का गवय पद के प्रवृत्तिनिमित्त के रूप में बोध होना सम्भव नहीं है। इसलिए गवयत्व गवय पद का प्रवृत्ति निमित्त है, इस निर्णय को सम्पन्न करने के लिए उपमान प्रमाण की आवश्यकता अनिवार्य है।

उपमान के सन्दर्भ में यह समझ लेना आवश्यक है कि ग्रामस्थ मनुष्य जब वनस्थ मनुष्य के 'गो सदृशो गवय:' 'गो-सदृश को गवय कहा जाता है' इस वाक्यार्थ के अनुभव से जन्य संस्कार से सम्पन्न हो वन में पहुँचता है और गो-सदृश गवय नामक पशु पर उसकी आँख पड़ती है तब उसे गवयत्व रूप से 'अयं गवय:' इस प्रकार उसका प्रत्यक्ष होता है, इस प्रत्यक्ष से वनस्थ पुरुष के पूर्वश्रुत वाक्यार्थ का संस्कार उद्‌बुद्ध होने पर 'गो-सदृश को गवय कहा जाता है' इस प्रकार उसका स्मरण होता है, इसके बाद उसे 'अयं गवय: गो सदृश:–यह गवय गो-सदृश है' इस प्रकार गवय का पुन: प्रत्यक्ष होता है। गवय में गो-सादृश्य का यह प्रत्यक्ष दर्शन ही उपमान प्रमाण है। यही 'गो सदृश को गवय कहा जाता है' इस अतिदेशवाक्यार्थस्मरण के सहकार से 'गवय शब्द गवयत्व रूप से गवय का वाचक है' इस आकार में गवय में गवय शब्द के शक्तिग्रह को जन्म देना है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि ग्रामस्थ पुरुष को गवय का दर्शन इदन्त्व, गोसादृश्य और गवयत्व इन तीन रूपों में होता है। अत: तीनों में कौन रूप गवय पद का प्रवृत्तिनिमित्त है, यह निश्चय करने में अकेला उपमान अर्थात् 'अयं गोसदृशो गवय:' यह सादृश्य दर्शन सक्षम नहीं है। इसलिए इदन्त्व के गवय

पद का प्रवृत्तिनिमित्त होने पर अप्रत्यक्ष गो में गवय पद का प्रयोग न हो सकेगा तथा गो-सादृश्य को प्रवृत्तिनिमित्त मानने पर कल्पना-गौरव होगा, क्योंकि गोसादृश्य का अर्थ है—गोत्वाभावविशिष्ट गोवृत्ति बहुधर्म। अत: गोसादृश्य को प्रवृत्तिनिमित्त मानने पर उसके कुक्षिगत सभी वस्तुओं में गवय शब्द की शक्ति कल्पनीय होगी। गवयत्व सभी गवय में रहने वाली एक जाति है, उसे गवय पद का प्रवृत्तिनिमित्त मानने में लाघव है तथा किसी गवय में गवय पद का प्रयोग होने में कोई बाधा नहीं है, इस तर्क को भी उपमान प्रमाण का सहकारी मानना होता है। फलत: यह तथ्य सामने आता है कि गवय में गोसादृश्य का दर्शन रूप उपमान प्रमाण अतिदेश वाक्यार्थ के स्मरण और उक्त तर्क के सहकार से गवय पद गवयत्वरूप से गवय का वाचक है, इस उपमिति प्रमा को उत्पन्न करता है।

नव्यन्याय में उपमान की उक्त प्रक्रिया में मुख्य रूप से दो बातें कही गयी हैं। एक यह कि उपमान के लक्षण में साधर्म्य-सादृश्य का सन्निवेश नहीं होना चाहिए। क्योंकि जिस प्रकार साधर्म्य-ज्ञान से अर्थविशेष में शब्दविशेष के शक्ति सम्बन्ध का ज्ञान होता है उसी प्रकार वैधर्म्य-ज्ञान से भी उक्त बोध होता है, जैसे दक्षिण में जहाँ करम-ऊँट नहीं होता वहाँ उत्तर का करम जानने वाला मनुष्य जब जाता है और उत्तर में जानवरों की चर्चा के सन्दर्भ में करम की चर्चा करता है तब 'कीदृक् करम:—करम कैसा होता है' दक्षिण के मनुष्य द्वारा ऐसा प्रश्न करने पर उत्तर का मनुष्य उत्तर देता है 'पश्वन्तरविधर्मा करम:—अन्य पशुओं का वैधर्म्य जिसमें हो उसे करम कहा जाता है।' उसके उस वाक्य से करम की जानकारी प्राप्त कर दक्षिण का मनुष्य जब कभी उत्तर में जाता है और वहाँ एक ऐसे पशु को देखता है जिसकी गर्दन लम्बी है, होंठ हिल रहे हैं, पीठ कछुवे के समान कठोर तथ ऊँची-नीची है और कठोर काँटे खा रहा है तो उसमें अन्य पशुओं से इस प्रकार का वैधर्म्य देखकर अतिदेश वाक्य के अर्थ का स्मरण कर वह मनुष्य यह ज्ञान प्राप्त करता है कि अन्य पशुओं से विलक्षण यह पशु करम पद वाच्य है। यह बोध प्रत्यक्ष, अनुमान किंवा शब्द प्रमाण से नहीं होता अत: इसकी उपपत्ति के लिए वैधर्म्यज्ञान को भी उपमान प्रमाण मानना आवश्यक होता है।

यह ज्ञातव्य है कि वैधर्म्यज्ञान की उपमान प्रमाण के रूप में कल्पना नव्यन्याय की प्रथम कल्पना नहीं है अपितु प्राचीन न्याय की ही मान्यता का विशदीकरण है, क्योंकि **न्यायकुसुमाञ्जलि** में उदयनाचार्य ने 'अज्ञातशक्तिक शब्द से घटित वाक्य के अर्थ का उस शब्द के वाक्य में जो अनुसन्धान होता है वह उपमान है' इस प्रकार उपमान का लक्षण बताते हुए कहा है कि अज्ञात शक्तिक पद से घटित वाक्य का अर्थ कहीं साधर्म्य होता है और कहीं वैधर्म्य। अत: साधर्म्यघटित उपमान लक्षण के समान यह लक्षण वैधर्म्यानुसन्धानरूप उपमान में व्याप्त नहीं है। इसी बात को गङ्गेश ने **तत्त्वचिन्तामणि** के उपमान खण्ड में इस प्रकार कहा है कि 'आगमस्मृति सहित सादृश्य-ज्ञान उपमान है', जयन्त आदि जरन्नैयायिकों द्वारा प्रतिपादित उपमान का यह लक्षण मान्य नहीं है क्योंकि यह

वैधर्म्य-ज्ञान रूप उपमान में अव्याप्त है। वाचस्पति मिश्र ने भी सूत्रोक्त उपमान लक्षण में साधर्म्य को धर्ममात्र का उपलक्षण मानकर करम शब्द के शक्तिग्राहक वैधर्म्यज्ञान रूप उपमान से सूत्रोक्त लक्षण की अव्याप्ति न होने की बात कही है।

इस सन्दर्भ में नव्यन्याय द्वारा जो दूसरी मुख्य बात कही गयी है वह है उपमितित्व को अनुभवत्व व्याप्य प्रत्यक्षादि व्यावृत्त जाति मानकर 'उपमितीकरणम् उपमानम्' इस रूप में उपमानलक्षण का प्रतिपादन, जैसाकि गङ्गेश ने उपमान खण्ड में अत्यन्त स्पष्ट रूप से कहा है, 'लक्षणं तु उपमितीकरणत्वम्, उपमितीत्व च जाति:, न चासिद्धि: कारणविशेषं कार्यं वैजात्यमावश्यकमिति। कारणव्यङ्ग्यत्वात्'–उपमान का लक्षण है उपमितीकरणत्व, उपमितित्व जाति है, वह असिद्ध नहीं है क्योंकि उपमिति प्रत्यक्ष आदि के कारणों से विजातीय कारण द्वारा उत्पन्न होती है अत: उसमें कारणवैजात्यमूलक वैजात्य आवश्यक है, कार्यगत जाति कारण से व्यंग्य होती है, यह सर्वमान्य है।

उक्त दोनों से अतिरिक्त एक और अत्यन्त प्रमुख बात नव्यन्याय में उपमान के सम्बन्ध में कही गयी है वह यह कि उपमान प्रमाण न मानने पर 'गवयत्व गवय पद का प्रवृत्तिनिमित्त है' यह निश्चय कथमपि सम्भव नहीं है, क्योंकि यह निश्चय 'गो-सादृश्य आदि की अपेक्षा गवयत्व के गवय पद का प्रवृत्तिनिमित्त होने में लाघव है' इस तर्क के द्वारा ही सम्भव है और तर्क स्वयं प्रमाण न होने से किसी प्रमाण का सहकारी होकर ही उक्त निश्चय को सम्भव बना सकता है। यदि यह कहा जाय कि 'गवय पद शिष्ट पुरुषों द्वारा अनेक गवय व्यक्तियों में प्रयुक्त होता है और गवय से भिन्न पशु में प्रयुक्त नहीं होता अत: गो आदि पदों के समान उसका भी कोई प्रवृत्ति निमित्त है' यह अनुमान उक्त तर्क के सहकार से यह निश्चय करा सकता है कि गवयत्व जाति गवय पद का प्रवृत्तिनिमित्त है, तो यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि 'जो पद एकजातीय अनेक व्यक्तियों में शिष्ट द्वारा प्रयुक्त होता है उसका कोई प्रवृत्ति-निमित्त होता है' यह सामान्यव्याप्ति है, इसके द्वारा केवल इतना ही निश्चय हो सकता है कि गवय पद का कोई प्रवृत्तिनिमित्त है, परन्तु इससे यह निश्चय नहीं हो सकता कि गवयत्व गवय पद का प्रवृत्ति निमित्त है, क्योंकि यह नियम है कि व्याप्तिज्ञान में जिस रूप से साध्य में हेतु की व्यापकता का ज्ञान होता है उसी रूप से साध्य का अनुमान होता है, अन्यथा धूम अपने व्यापक वह्नि के साथ रहता है इस व्याप्तिज्ञान से वह्नि का द्रव्य, धूमजनक तेज आदि के रूप में भी अनुमान प्रसक्त होगा, ऐसी स्थिति में कैसे सम्भव हो सकता है कि 'अनेक व्यक्तियों में प्रयुक्त होने वाले पद का कोई प्रवृत्तिनिमित्त होता है' इस सामान्य व्याप्ति से यह अनुमान हो कि 'अनेक गवय व्यक्तियों में शिष्ट द्वारा प्रयुक्त होने वाले गवय पद का प्रवृत्तिनिमित्त गवयत्व है'। वैशेषिक को अनुमान के सम्बन्ध में यह नियम स्वीकार नहीं है अत: उक्त सामान्य व्यक्ति के आधार पर गवय पद में गवयत्व प्रवृत्तिनिमित्तकत्व का अनुमान सम्भव होने से वैशेषिक की दृष्टि में उपमान की कल्पना निराधार है। अनुमान के सम्बन्ध में उक्त नियम मानने वाले न्यायमत को महत्त्व देने वाले

विद्वानों को इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन होगा कि उक्त नियम को मानने पर लाघवज्ञान के सहकार से क्षितिकर्त्ता के साधक अनुमान से उसमें एकत्व सिद्धि का सिद्धान्त कैसे सङ्गत होगा, इसके उत्तर के लिए उक्त नियमवादी नैयायिक को क्षितिकर्त्ता के एकत्वबोधक आगम की ही शरण लेनी होगी।

उपमान का क्षेत्र

वात्स्यायन ने शब्दार्थ सम्बन्ध मात्र में उपमान को सीमित न रखकर उसके अन्य क्षेत्र की ओर भी संकेत किया है। जैसे, 'एवम् अन्योऽपि उपमानस्य लोके विषयो बुभुत्सितव्य इति'–इसी प्रकार लोक में अन्य भी उपमान का विषय समझना चाहिए। यहाँ अन्य से शब्दार्थ-सम्बन्ध से भिन्न उपमान के विषय का संकेत किया गया है। उदाहरण के रूप में, जैसे कोई मनुष्य रामदेव के मकान का चित्र बनाकर उसके मकान के जिज्ञासु को यह बताता है कि यहाँ से एक किलोमीटर सीधे जाकर दाहिनी ओर मुड़ने पर पचास पग की दूरी पर इस चित्र के सदृश जो मकान दीख पड़े वह रामदेव का मकान है, जिज्ञासु तदनुसार निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचकर चित्र के सादृश्य से रामदेव के मकान की पहचान प्राप्त करता है, स्पष्ट ही यह पहचान सादृश्य दर्शन के आधार पर होने से उपमान प्रमाण का ही फल है।

इसी प्रकार कोई वैद्य किसी रोगी को एक लता दिखाकर उसे बताता है कि इस लता के समान एक दूसरी लता होती है, उसके मूल को काली मिर्च के साथ पीस कर आधी छटांक पानी में घोलकर उसे पीने से अजीर्ण दूर होता है। तदनुसार रोगी वैद्य द्वारा दिखायी गयी लता के सदृश लता की खोज कर उसे लाता है और वैद्य के निर्देशानुसार उसके सेवन से अजीर्ण से मुक्ति पाता है, अपेक्षित लता की जानकारी वैद्य दर्शित लता के सादृश्य-दर्शन से होने के कारण निश्चय ही उपमान का ही फल है।

वाचस्पति मिश्र ने तात्पर्य टीका में अन्य शब्द से साधर्म्य से भिन्न वैधर्म्य को संकेतित मानकर साधर्म्यज्ञान के समान वैधर्म्य ज्ञान को उपमान बताने में सूत्रकार का तात्पर्य वर्णित किया है। किन्तु यह उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि किसी प्रमाण का विषय उसे ही कहा जाता है जो उसके द्वारा प्रमित होता है, अत: उपमान का विषय कहने से उपमान से प्रमित होने वाले विषय को ही अवगत करना समीचीन है।

जयन्त भट्ट ने न्यायमञ्जरी में तथा गङ्गेश ने तत्त्वचिन्तामणि के उपमान खण्ड में उपमान के मीमांसकसम्मत विषय को प्रस्तुत कर उसे अस्वीकार्य बताया है। जैमिनि के **मीमांसा सूत्र** के भाष्यकर्त्ता शबरमुनि के पूर्ववर्ती मीमांसकों ने सादृश्य को सर्ववस्तु में विद्यमान एक धर्म किंवा उपमान उपमेय उभय में विद्यमान अनेक धर्म अथवा प्रतिव्यक्ति में विद्यमान भिन्न भिन्न धर्म के रूप में अतिरिक्त पदार्थ माना है और उसे ही उपमान-प्रमाण का विषय बताया है। उनका कहना है कि सादृश्य का ज्ञान किसी वस्तु के साथ इन्द्रिय-सन्निकर्ष होते ही नहीं होता तथा लिङ्गज्ञान और पदज्ञान-जन्य उपस्थिति के अभाव में भी दो वस्तुओं

में कतिपय समानधर्मों के ज्ञान से होता है, अत: उसे अपने व्यञ्जक अनेक समान धर्मों के ज्ञान रूप उपमान प्रमाण का प्रमेय मानना आवश्यक है।

शबरस्वामी का कहना है कि वन में गवय में गोसादृश्य का दर्शन होने पर वहीं ग्रामस्थ गौ में गवयसादृश्य का ज्ञान होना भी अनुभवसिद्ध है, इसे प्रत्यक्ष प्रमाणजन्य नहीं माना जा सकता क्योंकि यह असन्निदृष्ट गौ में गवयसादृश्य को विषय करता है, इसे अनुमानजन्य अथवा शब्दजन्य भी नहीं माना जा सकता क्योंकि गवयनिष्ठ गो-सादृश्य गो में न रहने से लिङ्ग के रूप में मान्य नहीं हो सकता एवं गोनिष्ठ गवय-सादृश्य शब्द से उपस्थित नहीं है, वनगत पुरुष को गवय में गो- सादृश्य के दर्शन से ग्रामस्थ गौ में होने वाले गवय-सादृश्य ज्ञान को उपमान प्रमाण का ही फल मानना आवश्यक है।

जयन्त तथा गङ्गेश दोनों ने इन उभय मतों को यह कहकर निरस्त किया है कि वनगत ग्रामस्थ को अपने दूरस्थ गौ में गवय-सादृश्य का जो ज्ञान होता है वह स्मरण रूप या अनुमिति रूप है, उनका आशय यह है कि गवय को देखने पर गौ का स्मरण होता है, और गो तथा गौ में विद्यमान सादृश्य एक ही है जो गवय में दृष्ट होने से गौ में भी स्मृत हो सकता है, और यह भी निर्विवाद रूप से सम्भव है कि गवय में गौ का सादृश्य ज्ञान होने पर गवयनिष्ठ सादृश्य-प्रतियोगित्व हेतु से गौ में गवयसादृश्य का अनुमान हो सकता है क्योंकि जो यद्‌गत सादृश्य का प्रतियोगी होता है वह उसके सदृश होता है, यह व्याप्ति प्रत्यक्ष दृश्यमान सदृश पदार्थों में विदित है।

इस प्रकार जयन्त और गङ्गेश ने उपमान के मीमांसक सम्मत विषय को निरस्त कर शब्दार्थ सम्बन्ध तथा साधर्म्य-वैधर्म्य के आधार पर परिचेतव्य वस्तु को ही उपमान प्रमाण का विषय निर्धारित किया है।

काश्मीर शैव दर्शन पर आचार्य गोविन्दचन्द्र पांडे के विचार

नवजीवन रस्तोगी

भारती विद्या के क्षेत्र में इस शताब्दी के मौलिक चिन्तकों में बहु आयामी प्रतिभा के धनी प्रो. गोविन्दचन्द्र पांडे अग्रिम पंक्ति में आते हैं। भारती विद्या के लगभग सभी पक्ष–इतिहास, संस्कृति, कला, दर्शन, काव्यशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र, संगीत, काव्य–उनकी सर्जनात्मक प्रखर मेधा का स्पर्श पाकर समृद्धतर हुए हैं। इस लेख में मेरा प्रयास काश्मीर शैवदर्शन से सम्बन्धित उनके विचारों का समीक्षात्मक आकलन करने का है।[1]

काश्मीर शैवदर्शन पर प्रकटित उनके विचारों की चार दिशाएँ मिलती हैं। एक तो मौलिक दार्शनिक संदर्भ में, दूसरे भारतीय दार्शनिक परम्परा के साथ प्राप्य अन्विति के संदर्भ में, तीसरे तांत्रिक धारा के संदर्भ में, और चौथे इस विचारधारा की प्रातिस्विक विशेषताओं के संदर्भ में। समकक्ष्य और विरोधी विचारधाराओं के साथ तुलनात्मक विश्लेषण या दर्शनेतर विधाओं में विनियोग चौथी धारा के ही उपवर्ग माने जाएंगे। विचार की इन चारों धाराओं को प्रो. पांडे की प्राच्य-पाश्चात्य ज्ञान-परम्परा में ऐतिहासिक और ऐतिहासिकोत्तर गहन अन्तर्दृष्टि का पोषण प्राप्त हुआ है जो काश्मीर शैवदर्शन विषयक हमारी समझ को निखारने में अमूल्य सिद्ध हुई है।

मूलभूत सरोकार

काश्मीर शैवदर्शन का मूल्यांकन प्रो. पांडे 'अद्वैतवादी ईश्वरवाद'[2] या 'ईश्वरवादी अद्वैतवाद'[3] के सर्वोत्तम निदर्शन के रूप में करते हैं। देखा जाए तो यह निरूपण स्वयं काश्मीर शैवदर्शन के ईश्वराद्वैतवाद या परमेश्वराद्वयवाद या शिवाद्वैतवाद की शब्दावली में किये गए स्वोपज्ञ नामकरण की अनुगूँज है। प्रश्न है कि काश्मीर शैव दर्शन को किस रूप में देखना उचित होगा? ईश्वर-विज्ञान/धर्म-विद्या की शाखा के रूप में या दर्शन की एक विधा के रूप में? इस प्रश्न को शब्दान्तर से यों भी पूछा जा सकता है कि क्या यह एक कट्टर मतवाद है या आगमों की युक्त्यनुकूलित तर्कपरक व्याख्या? पश्चिम के विद्वानों का बहुमत इसे ईश्वर-विज्ञान मानता है और इसे 'ईश्वर-विज्ञान', 'व्यक्तिगत ईश्वर-विज्ञान' से लेकर 'दार्शनिक ईश्वर-विज्ञान' तक के प्रकार-भेदों से निरूपित करता है। पांडे की दृष्टि भिन्न है और हमारे लिए यह बात महत्त्वपूर्ण है। उनका कहना है कि स्वयं ईसाई मत के मूल शास्त्र में ईश्वर-विद्या या धर्म-विद्या नहीं है। उसमें निजी अनुभूतियों की चर्चा अवश्य आयी है पर शास्त्र के रूप में यह परिनिष्ठित नहीं हुई है। ईश्वर-विद्या की प्रकल्पना को आकार और आधार मिलता है चर्च (ईसाई मत) या राज्य (इस्लाम) से। यहाँ ऐसा नहीं [illegible] है; विशेषकर काश्मीर शैवमत के संदर्भ में तो बिल्कुल नहीं। श्रुति या आगम की व्य[illegible] और

उसके विकास-सोपानों को ईश्वर-विद्या की रूढ़िबद्धता से नहीं बाँधा जा सकता। आगमिक मीमांसा के तीन चरण हैं–(1) आगम, (2) व्याख्या और (3) तार्किक विश्लेषण (आन्वीक्षिकी)। यही स्थिति वेदान्त में भी है–(1) उपनिषद् (आगम), (2) ब्रह्मसूत्र (व्याख्या) और भाष्य (आन्वीक्षिकी)। अत: आगमिक सम्प्रदाय ईश्वर-विज्ञान नहीं है।[4]

पांडे की दृष्टि में काश्मीर शैव दर्शन दर्शन है। परम्परा भी यही मानती है। सोमानन्द अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ **शिवदृष्टि** में दर्शन के पर्याय 'दृष्टि' का प्रयोग करते हुए इसे दर्शन मानते हैं और माधवाचार्य **सर्वदर्शनसंग्रह** में इसे प्रत्यभिज्ञा दर्शन के नाम से संगृहीत करते हैं। **तन्त्रालोक** के टीकाकार जयरथ सोमानन्द से लेकर अभिनवगुप्त तक के दार्शनिकों का 'तर्कस्य कर्त्तार:' कहकर उल्लेख करते हैं।[5] वस्तुत: इस सम्प्रदाय को दर्शन कहा जाना पांडे की दर्शनगत इस परिभाषा से समंजस बैठता है।[6] उनकी दृष्टि में दर्शन एक द्वंद्वात्मक विचार-प्रक्रिया है। दर्शन सर्वदा विचारों का विमर्शन या प्रत्यालोचन है, वे चाहे युगीन हों या कालोपात्त। इस प्रक्रिया के तीन चरण हैं–(1) ये विचार मान्यता के रूप में समादृत हों, (2) विचारक को आत्म-मंथन के द्वारा उपलब्ध हों और (3) जिन तथ्यों पर ये आधारित हों उनका परीक्षण हों। दूसरे शब्दों में, मूल स्थापनाओं से परे जाकर उनके मूलाधारों पर संशय तथा परीक्षा। नागार्जुन, शंकर और काश्मीर शैव दर्शन के आचार्यों में इस द्वंद्वात्मक चिन्तन के दोनों पक्ष समान रूप से उपलब्ध होते हैं। वे पक्ष हैं–(1) अन्य अर्थात् परीक्षणीय पूर्वपक्ष की मान्यताओं का निर्धारण, (2) और फिर उनकी असंगतियों का उत्खनन। दर्शन का प्ररूप कोई भी हो, उसका प्रारम्भ निरपवाद रूप से किसी न किसी पूर्वमान्यता से होता है। काश्मीर शैव दर्शन अध्यात्म विद्या का एक प्ररूप है। यह जिस सत्य को मानकर प्रवृत्त होता है उसकी सिद्धि किसी युक्ति से सम्भव नहीं है। वह इस अर्थ में अप्रमेय है कि वह बुद्धि की पहुँच की सीमा से परे है। ज्ञान के इस स्रोत को ही आगम कहा गया है।[7]

काश्मीर शैवदर्शन की आगमोपजीव्यता के प्रसंग में पांडे की एक अन्य किन्तु सम्बद्ध मान्यता का उल्लेख आवश्यक होगा। प्रत्येक आधारभूत दार्शनिक सिद्धान्त या पूर्वस्थापना के बीज में कोई न कोई विश्व-दृष्टि या सांस्कृतिक परिदृश्य अवश्य रहता है। अधिकतर पारम्परिक दर्शनों में यह विश्वदृष्टि किसी धार्मिक परम्परा पर आश्रित रही है। भारतीय परम्परा में दर्शन दो सम्बद्ध अंगों की अन्तःक्रिया की उपज है–आन्वीक्षिकी (जिसे प्रसंगभेद से हेतु-विद्या या न्यायविद्या भी कहा गया है) और अध्यात्मविद्या। इनमें से पहले का आग्रह दर्शन के मननात्मक और यौक्तिक पक्ष पर है और दूसरे का मानवीय या अतिक्रामी विषयिता या आत्मतत्त्व पर। इस अर्थ में सांख्य, वेदान्त, बौद्ध और प्रत्यभिज्ञा–ये सभी दर्शन युगपत् आगमानुसारी और न्यायानुसारी हैं। प्रत्ययवाद की ये सारी भारतीय विधाएँ आध्यात्मिक प्रत्ययवाद की ही विधाएँ हैं, न कि बौद्धिक प्रत्ययवाद की। क्योंकि ये आनुभविक प्रदत्तों के आधार पर या प्रागनुभविक रूप से मानवीय सहज बुद्धि/विवेक को चरम ज्ञानात्मक शक्ति नहीं मानतीं बल्कि इनकी निष्ठा आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि की किसी परम्परा में बद्धमूल है और असम्भावना और विपरीत भावना का अपसारण करते हुए

परम्पराप्राप्त बोध और निज अनुभवसिद्ध उपलब्धियों के सहारे वह अपने को जानना चाहती है।[9] काश्मीर शैवदर्शन की दार्शनिक इयत्ता का प्रश्न भले ही देखने में क्षुद्र लगे पर मौलिक दार्शनिक मूल्यों के संदर्भ में इसका महत्त्व दूरगामी है। इतनी लम्बी चर्चा के पीछे यही औचित्य है।

भारतीय दार्शनिक परम्परा के साथ अन्विति

समग्र भारतीय दार्शनिक परम्परा के साथ अन्विति को लेकर जब हम काश्मीर शैवदर्शन का आकलन करते हैं तो हम देखते हैं कि विश्व की अन्य धार्मिक और दार्शनिक जीवन-दृष्टियों से भारतीय परम्परा को जो बात अलग करती है वह है संस्कृति और दर्शन के मूल मन्त्र के रूप में समाई उसकी आध्यात्मिकता। उसका मुख्य बिन्दु रहा है चेतना का 'अन्तर्मुख परिशीलन'। मानसिक विकल्पों में अथवा उनके विषयों में खोए बिना अपने को, विषयी को खोजना, अनुभव-प्रवाह में आभासित आत्मिक चेतना का अनुसंधान अध्यात्म साधना का रहस्य है।[10] इसी की उपलब्धि मुख्य अर्थ में ज्ञान है। वसुगुप्त अपने शिवसूत्रों का प्रारम्भ ही विषयिभूत चेतन की अपेक्षा (धर्मकल्प) चेतना को आत्मा से समीकृत करते हुए करते हैं।[11] उनके संकेतार्थ को स्पष्ट करते हुए उत्पल देव अपनी **प्रत्यभिज्ञा कारिका** में घोषित करते हैं कि जो ज्ञान चिति की आत्मानुसंधानरूपी क्रिया में ही अपनी सार्थकता पाता है ऐसे ज्ञान की खोज ही मनुष्य का चरम पुरुषार्थ है।[12] **योगसूत्र** की भाषा में पांडे जहाँ इसे 'द्रष्टा का स्वरूप में अवस्थान' कहते हैं,[13] वहीं अभिनवगुप्त[14] उसी **योगसूत्र** का आश्रय लेते हुए इसे 'द्रष्टा की दृशिमात्रतापत्ति' के रूप में प्रस्तुत करते हैं।[15] यही वह स्थिति है जो मनुष्य को आत्मस्थ कर सदा के लिए काम-कर्म-भोग के चक्र से मुक्त कर देती है।

पांडे का तात्कालिक सरोकार यद्यपि 'अध्यात्मविद्या और योग' से है परन्तु निष्कर्षत: वे बार-बार काश्मीर शैवदर्शन के मंतव्यों का आसूत्रण करते हैं। चेतना के इस स्वरूपावस्थान में अध्यात्मविद्या का दूसरा आयाम भी अन्तर्निहित है। पांडे के अनुसार अपनी खोज जहाँ एक ओर ज्ञान को खोज रही है वहीं दूसरी ओर अपने स्थायी अस्तित्व को भी खोज रही है—अस्मिता के साथ अस्तिता का प्रत्यय युगनद्ध है। स्थायिता की खोज का दूसरा पड़ाव है परलोक की कल्पना। कर्म और उपासना के द्वारा परलोक के साध्य माने जाने पर भी यह माना गया कि पारलौकिक गति कर्म मात्र पर आश्रित है और उतनी ही अनित्य है जितनी कि ऐहिक गति। इस अवधारणा का फल यह हुआ कि परलोक-साधनरूपी धर्म अध्यात्म-पर्येषणा के समक्ष गौण हो गया। यह माना जाने लगा कि अमरता का मनुष्य के लिए वास्तविक अर्थ स्वरूपावस्थान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसीलिए मुक्ति, कैवल्य, निर्वाण को अमृतत्त्व या अमृत पद कहा जाता है।[16] मनुष्य की लोकान्तर यात्रा, उसके हेतु, देवतत्त्व, उसकी उपासना, मृत्यु और अमृतत्व ये सभी चेतना के ही अन्तर्गत, उसी के रूपान्तर अथवा विवर्त हैं। **प्रत्यभिज्ञाहृदय** के प्रथम सूत्र[17] के प्रमाण से पांडे का मानना है कि स्वतन्त्र वस्तुओं के विश्व में चेतना कोई परतन्त्र धर्म नहीं है बल्कि

समग्र वस्तुव्यवस्था उसी से सिद्ध होती है। इसीलिए पांडे का निष्कर्ष है, चेतना के अनुसंधान रूप में आध्यात्मिकता को भारतीय संस्कृति का मूल मन्त्र कहा जाना चाहिए।[18]

पांडे इससे एक अन्य निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, यद्यपि शब्दश: वे यह नहीं कहते। काश्मीर शैवदर्शन का अद्वैत पूर्णतावादी है और इस व्याख्या में वह वैदिक पूर्णत्ववाद की तन्त्र-दार्शनिक प्रतिकृति है। जीवन और मृत्यु की पृष्ठभूमि में व्यक्त आकार और निराकार अव्यक्त के बीच शक्ति का अखण्ड सूत्र देख सकना ही वैदिक पूर्णत्ववाद का आधार है।[19] आन्तरिक और बाह्य का विरोध वैदिक ऋषियों की चेतना में नहीं पनपता। सारी विद्याओं का ब्रह्मविद्या की ओर उन्मुखन एक सहज प्रवाह का अंग है। "आरम्भ में नाना रूपधारी देवताओं में परम तत्त्व की उपासना और अन्त में एक परम तत्त्व में सभी नाम-रूपों का मूल देख सकना यह एक ही प्रक्रिया के दो छोर हैं।" इस दृष्टि में जगत् हेय या तिरस्कृत नहीं होता क्योंकि जीवन की सारी अपूर्णताओं में एक सम्पूर्णता ही प्रतिबिम्बित होती दिखाई पड़ती है।[20]

पूर्व उत्तर-वैदिक युग तक आते-आते आध्यात्मिक जीवन की तमाम समानान्तर परम्पराओं–आस्तिक और आस्तिकेतर दोनों–का उदय होता है और उनकी पारस्परिक अन्त:क्रिया से क्रमश: अनेक सम्प्रदाय विविध पारम्परिक सरणियों में अन्विति को तलाशते क्षितिज पर दिखाई देते हैं। प्राचीनतम वैदिक ऋषि अविरत दिव्य सत्ता की उपस्थिति के निरन्तर अनुभव और बोध के साथ जीते दिखाई देते हैं। यह वह स्थिति है जिसकी तुलना काश्मीर शैवदर्शन में अनुपाय की स्थिति से या महायानी सिद्धों की सहज की स्थिति से की जा सकती है।[21] यह बात अवश्य है कि अनुपाय या सहज के रूप में वैदिक अध्यात्म चेतना का यह पुनराविर्भाव थी और इसका आविर्भाव ऋत या उसके बौद्ध संस्करण प्रज्ञा और धर्म द्वारा जन्य आध्यात्मिक दृष्टि और सांसारिक कर्म के मध्य द्वैत के अपाकरण के प्रयत्नों के फलस्वरूप हुआ। यह वस्तुत: सहज दृष्टि और अखण्ड समग्रता का मार्ग था।[22] पांडे की इस प्रस्तावना में एक असाधारण महत्त्व की घोषणा के बीज छिपे हैं। भारतीय दार्शनिक इतिहास में प्रश्न उठता रहा है कि तान्त्रिक धारा का उत्स क्या वैदिक धारा के उत्स से स्वतन्त्र और भिन्न है? भारती विद्या के अधीतियों में इस पर गहरा मतभेद है। जहाँ तक पांडे का सवाल है, उनके उपर्युक्त विवेचन से उनका झुकाव असंदिग्ध रूप से तन्त्रों में भी वैदिक धारा की अविच्छिन्नता के पक्ष में जान पड़ता है। इसीलिए उनके अनुसार काश्मीर शैव दर्शन की पूर्णता-भङ्गी को वैदिक दर्शन की पूर्णता-भङ्गी का ही तान्त्रिक प्रतिबिम्बन समझा जाना चाहिए।

इस प्रकार यह देखना सहज है कि वैदिक और श्रमण संस्कृतियों के संयोजन से भारतीय आध्यात्मिक परम्परा का निर्माण हुआ है।[23] इन दोनों पक्षों को समाहित करने के प्रयत्न गीता, पुराण और तन्त्रों–आध्यात्मिक धारा के अभिव्यंजक माध्यमों–में देखे जा सकते हैं। यद्यपि तन्त्रों के विपुल साहित्य और उससे भी बढ़कर उसकी विपुलतर विविधता से पांडे का अंतरंग परिचय है, तन्त्रों की सामान्य अभिधेयता उनके लिए काश्मीर शैवदर्शन

में सिमट जाती है। **गीता** में कर्म और अकर्म की वास्तविक एकता प्रतिपादित की गयी है और आनुष्ठानिक कर्म को कर्मयोग में और कर्मयोग को ज्ञानयोग में पर्यवसित माना गया है। पुराणों में ज्ञान को उपासना-साध्य मानकर यज्ञ के स्थानापन्न एक नये प्रकार के कर्मकाण्ड का विधान है। तन्त्रों में आन्तरिक स्वातन्त्र्य के रूप में ज्ञान और कर्म की मूल एकता का प्रतिपादन है। पुराणों में प्रतिपादित भक्ति में कर्म और संन्यास समाहित होते हैं, जबकि तन्त्रों में प्रकृति-परावर्तन के द्वारा प्रवृत्ति और निवृत्ति का सहज समाधान हो जाता है।[24] प्रत्ययान्तर से यही शिव-शक्ति का परिणाम या मिथुनभाव है। इस सत्य को भूलकर शक्ति को जड़ मात्र मान लेने से समस्त ऐतिहासिक सिद्धि जड़वाद को ही अर्पित हो जाती है। **शिवसूत्र**[25] को उद्धृत करते हुए पांडे का यह कथन काश्मीर शैवदर्शन का अनुवाद मात्र है कि "चेतना का अनुसंधान तब तक पूर्ण नहीं हो सकता है जब तक सृष्टि के कारण को उसकी (विषयी की) इच्छा में न देखा जाए—स ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय।"[26] परा विद्या या अध्यात्मविद्या आत्मा के संवेदन का विषय है, पर उसका मार्ग अन्ततः आगम, अथवा शास्त्र से विदित होता है। यदि विद्या उपलब्ध्यात्मक है और योग उसका अन्तरंग साधन, तो उपदेश होने के नाते शास्त्र विद्या एवं योग उस उपलब्धि-योग के सहायक हैं। "उपनिषद् एवं महायान सूत्र, प्रत्यभिज्ञा एवं त्रैपुर आगम, योगवासिष्ठ आदि में यह ज्ञान की परम्परा सुविस्पष्ट है।"[27] हम स्पष्ट देख सकते हैं और पांडे की टिप्पणियों से साफ झलकता है[28] कि भारतीय संस्कृति की आध्यात्मिक परम्परा के रूप में व्याख्या की जो शुरुआत महर्षि अरविन्द से होती है और अनुभूति एवं सिद्धान्त को सम्बन्धित करते हुए शास्त्रीय संदर्भ में उसका जो व्यवस्थित और परिष्कृत रूप कविराज जी की कृतियों में मिलता है, पांडे की मीमांसा उसी का ऐतिहासिक/दार्शनिक/अन्तर्सांस्कृतिक/मूल्यचिन्तनात्मक विश्वकोषीय विकास है और काश्मीर शिवाद्वयवाद की भारतीय संस्कृति के मूलाधारों के साथ अन्विति की पराकाष्ठा का आसूत्रण उसकी सहज परिणति है।

तान्त्रिक संदर्भ

काश्मीर शैव दर्शन की तान्त्रिकता को लेकर हम पांडे के विचारों की तीसरी कक्षा में प्रवेश करते हैं।[29] तन्त्रों पर वे एक व्यापक फलक पर विचार करते हैं, परन्तु दार्शनिक पक्ष पर विचार करते समय वे अनायास ही काश्मीर शैव दर्शन में प्रवेश कर जाते हैं। भारत के प्रधान दर्शनों—आस्तिक और नास्तिक दोनों धाराओं के—से काश्मीर शैव दर्शन की व्यावृत्ति का एक प्रमुख आधार उसकी तान्त्रिकता में निहित है। अभिनवगुप्त के साक्षात् विद्यागुरु लक्ष्मणगुप्त के **शारदातिलक** तन्त्र के प्रामाण्य से[32] वे परमेश्वर की प्रथम प्रसूति नाद को मन्त्र से एक मानते हैं।[33] अपनी बात को वे वसुगुप्त के शिवसूत्र 'चित्तं मन्त्रः'[34] से पुष्ट करते हैं। मन्त्र विमर्श रूप है, विचार रूप है, प्रत्यय रूप है। मन्त्र का जप, अविरत पुनरावृत्ति संलग्न मानसिक प्रतिमाओं और विकल्पों से विचार को परिशुद्ध कर साधक की चेतना के रूप में व्यक्त करता है।[35]

वह मूलभूत सिद्धान्त जिस पर तन्त्र आश्रित है यह है कि मानवीय चेतना में एक सर्जनात्मक सार्वभौम चेतना व्याप्त है जो अन्तर्मुखन और बहिर्गमन की लय में नैसर्गिक रूप से अपने को व्यक्त करती रहती है–प्रतिश्रुति, प्रतिबिम्ब-सामान्य या अहं-विमर्श/आत्म-संवेदना की तर्ज पर। देवता-साक्षात्कार के निमित्त मानव-चेतना के लिए इस लय को पकड़कर उसके मूल तक पहुँचना आवश्यक है। परम सत्ता या ब्रह्म की परिभाषा ऐसे उत्स के रूप में की गयी है जिससे जगत् का उद्भव होता है, जिसके द्वारा यह स्थित रहता है और फिर जिसमें लीन हो जाता है। परम चेतना के रूप में ब्रह्म में इस प्रकार एक स्वाभाविक शक्ति होती है जो अपने को विकास और संकोच, उद्भव और उपसंहार के दोलाभाव से क्रमशः प्रकट करती रहती है। चित्-शक्ति की इस आत्माभिव्यंजक लयबद्धता, आत्मच्छन्दन को काश्मीर शैव दार्शनिकों ने स्फुरता या स्पन्द की संज्ञा से निरूपित किया है।[36] समग्र विश्व और उसका प्रत्येक अंश उस चरम ऊर्जा का स्पन्दन मात्र है और सारी विशेष ऊर्जाएँ औरं स्पन्दन उस चरम, सार्वभौम, सामान्य शक्ति और उसकी आत्मोद्गारिणी लय के ही प्रकार-वैचित्र्य हैं।[37] इच्छा, ज्ञान और क्रिया ये तीन सोपान हैं जिनके माध्यम से चित्-शक्ति अपनी सर्जनशीलता को प्रकट करती है।[38] यह इच्छा स्वयं में आनन्द का उच्छलन मात्र है, वह आनन्द जिससे चिति परिभाषित, परिचिह्नित होती है। इस प्रकार अपने को ही जानने और अपने को ही कहने, अपना अभ्युपगम करने की प्रक्रिया अनिवार्यतः रचनात्मक है। इस इच्छावादी अभिनिवेश के कारण तन्त्र बौद्ध, सांख्य और वेदान्त जैसे नितान्त ज्ञानवादी सम्प्रदायों से बिल्कुल अलग संवर्ग में खड़ा हो जाता है। फलतः तान्त्रिक साधना भी असंपृक्त साक्षी चेतना की खोज तक ही अपने को सीमित नहीं रखती अपितु विश्व मानस की लय के साथ अन्विति स्थापित करना चाहती है, क्योंकि उस परम चैतन्य के अन्दर ही साक्षित्व का कोई अर्थ हो पाता है। उस सार्वभौम चेतना के अन्दर ही साक्षित्व और स्रष्टृत्व (प्रकाश और विमर्श, शिव और शक्ति) एक ही अखण्ड सत् के क्षण मात्र हैं। मानवीय आकांक्षा का लक्ष्य विशुद्ध विषयिता या अहंता के आश्रय तक पहुँचना ही नहीं है बल्कि उस दिव्य भाव की प्राप्ति है जो उसके अस्तित्व का आन्तरिक स्रोत है।[39]

स्वरूपगत वैशिष्ट्य

काश्मीर शैवदर्शन की एक आध्यात्मिक दर्शन के रूप में परिकल्पना की सहज अपेक्षा होती है कि उसकी प्रातिस्विक विशेषताओं पर विचार किया जाए। दूसरे शब्दों में, यह जाना जाए कि वह अपने को अन्य दर्शनों से कैसे व्यावृत्त करता है। उत्पल की प्रत्यभिज्ञा कारिकाओं पर अभिनवगुप्त की विमर्शिनी टीका के मंगलाचरण को पांडे सम्पूर्ण प्रत्यभिज्ञा दर्शन का सार मानते हैं।[40] मंगलाचरण इस प्रकार है–

निराभासात् पूर्णादहमिति पुरा भासयति यत्।
द्विशाखामाशास्ते तदनु च विभङ्कुं निजकलाम्।

स्वरूपादुन्मेषप्रसरणनिमेषस्थितिजुषस्
तदद्वैतं वन्दे परमशिवशक्त्यात्मनिखिलम्।[41]

यहाँ सम्प्रदाय का पूरी तरह से निरूपण हुआ है। सम्पूर्ण सत् परमशिव और शक्ति से एकरूप है। अपने ही स्वरूप से वह जगत् का सर्जन, धारण और संहार करता है। वह आभासों से रहित है पर 'शून्य' नहीं है। इसके अन्दर सर्वप्रथम अहंभाव का उन्मेष होता है और फिर उससे द्वैतभाव का–विषयी/विषय, शब्द/प्रत्यय, शिव/शक्ति का। सम्प्रदायेतर व्यक्ति के लिए ऐसे सत् का परिभावन कठिन है। 'निराभासात्' शून्यवाद को स्वीकार्य है और 'पूर्णात्' अद्वैत वेदान्ती को। परन्तु 'अहमिति पुरा भासयति' दोनों के लिए तिरस्कार्य है। 'अहम्' के उन्मेष की स्थिति विचित्र है–इसे बंध का उदय माना जाए या अन्त? जब तक द्वैत का उदय नहीं हुआ है अहंता शक्ति का 'स्वरूप' कैसे हो सकती है? द्वैत का उदय तो सदाशिव की स्थिति में होता है। शिव और शक्ति उसके पूर्व हैं। अनुत्तर या निराभास शिव और शक्ति, प्रकाश और विमर्श का सामरस्य कब बनता है?[42]

इस सम्प्रदाय में परम सत्, जिसे परम शिव, महेश्वर या अनुत्तर कहा गया है, चेतना या संविद्-रूप है। इसकी दृष्टि इस अर्थ में घोर प्रत्ययवादी है कि चेतना के विषय भी चेतनारूप हैं। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वे भ्रान्त या असत् हैं। वे चेतना की अपूर्ण या सीमित आत्माभिव्यक्ति हैं और उन्हें पारिभाषिक तौर पर 'आभास' (= अपूर्ण भास) कहा गया है। स्वयं वह चेतना अखण्ड, सार्वभौम, कालातीत होने पर भी स्वरूपत: सर्जनात्मक और गतिमय है। इसके दो अविभजनीय घटक हैं–प्रकाश और विमर्श। प्रथम पक्ष में यह चेतना अपने अन्तर्विषय का प्रकाशन या साक्षात्करण है और दूसरे में अपना ही परामर्शन या अभिधान। अंग्रेज़ी रूपान्तर की खोज में पांडे का विमर्श के लिए 'सेल्फ अफर्मेशन' शब्द बड़ा सटीक है। चेतना की यह अवधारणा सांख्य की तद्गत धारणा से भिन्न है जहाँ पुरुष केवल देख सकता है (साक्षी) और प्रकृति केवल क्रिया कर सकती है (परिणामी)। यह वेदान्त से भी भिन्न है जहाँ ब्रह्म (साक्षिचैतन्य) देखता तो है पर देखने के लिए उसका कोई 'अन्तर्विषय' नहीं है (अधिष्ठानचैतन्य)। यहाँ संवित् स्वरूपत: अहंचेतना या आत्म-चैतन्य है और निस्सीमत: सर्जनात्मक है, और सृष्टि और कुछ न होकर आत्म-विमर्शन मात्र है। यही वस्तुत: अहंपरामर्श या चेतना का अहंभाव है।[44]

आत्मा, ब्रह्म या परमशिव और चैतन्य इनमें केवल नाम का अन्तर है। 'तत् त्वमसि'–इस उपनिषद्-वाक्य ने जब से मानवीय या व्यष्टि-आत्मा की सर्वोच्च समष्टि सत् से एकता प्रतिपादित की आत्मा का प्रत्यय भारतीय दर्शन का सबसे केन्द्रीय और चुनौती भरा प्रत्यय रहा है। आत्मा को घेरने वाले विवाद का स्वरूप भी तत्त्वत: पारतात्त्विक/तत्त्वमीमांसीय रहा है। आत्मा क्या विशिष्ट सत् है, क्या इसकी सत्ता द्रव्यात्मक है या अतिक्रामी, और क्या यह वैयक्तिक है या वैश्विक? ये वे तीन प्रश्न हैं जिन पर भारत के दार्शनिक विचारक अपनी स्थिति को परिभाषित करते रहे हैं।[45] काश्मीर शैवदर्शन की दृष्टि में आत्मा सत् है, सार्वभौम है, अतिक्रामी है और फिर भी व्यष्टि-सत् को अपने में और

अपने से भासित करने के कारण उससे एकरूप है। धर्मी और धर्म, द्रव्य और गुण आदि का प्रश्न या तो अप्रासंगिक कहा जा सकता है या औपचारिक, क्योंकि आत्मा (द्रव्य/धर्मी) और चैतन्य (भाव/धर्म/गुण) दोनों अविच्छिन्न और एक हैं। फिर भी यदि इतनी ही अनिवार्यता हो तो उसे धर्मी, प्रमाता या कर्त्ता की श्रेणी में रखना होगा।[46] किन्तु वह ऐसा कर्त्ता होगा जो कर्तृत्व का आश्रय न होकर तद्रूप होगा। मानवीय आत्मा का स्वरूप चिद्रूप या ज्ञानात्मक मानने पर उस ज्ञान को क्या तार्किक या विचारात्मक कहा जा सकता है, यह प्रश्न आवश्यक रूप से उपस्थित होता है।[47] समस्त भारतीय परम्परा में, जो आत्मा को ज्ञानस्वरूप मानते हैं वे भी उस ज्ञान को अध्यवसायात्मक या बौद्धिक-क्रियात्मक नहीं मानते। शंकर के लिए यह ज्ञान निर्गुण और निर्विशेष है। भर्तृहरि में समस्त प्रत्यय शब्दानुविद्ध होने पर भी शब्द का मूल रूप पश्यन्ती वाक् है जो कि एक प्रकार से प्रातिभ ज्ञान का दूसरा नाम है। काश्मीर शैवदर्शन में प्रकाश के सविमर्श होते हुए भी[48] विमर्श और बौद्धिक विकल्प एक नहीं हैं। प्रकाश यदि संवित् या ज्ञान है तो विमर्श उसी की क्रियाशीलता।[49] चेतना की प्रत्येक क्रिया में, प्रत्येक अवस्था में शिव का ही ज्ञान होता है–जानते हुए, इच्छा करते हुए, क्रिया करते हुए, स्मरण करते हुए, जो नहीं ज्ञात होता है वह है उसकी महिमा, ज्ञान, चैतन्य, उसका वास्तविक स्वरूप है। यह जानना ही वास्तविक प्रत्यभिज्ञा है–

> *तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्*
> *तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥*[50]

काश्मीर शैवदर्शन की आध्यात्मिक साधना में[51] साध्य भूमिका (अविकल्पात्मिका संवित्=महेश्वर) और साधन भूमिका (भेद-भेदाभेद-अभेदमय संस्करणीय विकल्प-शुद्धविकल्प-अविकल्प ज्ञानरूप उपाय) में कोई अन्तर नहीं है। शिव को शक्ति के परिप्रेक्ष्य में शक्तिमान् कहा जाता है–चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया उसकी शक्तियाँ हैं। उपाय में शिव की ये सारी विशेषताएँ हैं। शाम्भव उपाय में इच्छा, शाक्त में ज्ञान और आणव में क्रियाशक्ति का ही प्रस्फुटन होता है। इसलिए उपाय उपेय से अतिरिक्त नहीं है–''उपायजालं न शिवं प्रकाशयेद्, घटेन किं भाति सहस्रदीधितिः।''[52] आप अपने स्वरूप पर जितना ही मनन करते हैं उससे आप का स्वरूप उतना ही स्फुट होता जाता है।[53]

इस सम्प्रदाय के अनुसार विश्वात्मा अपने को ही आधार बनाकर अपने अन्दर स्थित विश्व को प्रकट करता है।[54] आभासित विश्व का परम तत्त्व से वही सम्बन्ध है जो दर्पण में प्रतिबिम्बित बिम्ब का दर्पण से। अर्थात् आभासित विश्व की परम तत्त्व से एकता वास्तविक है और भेद प्रतीतिगत है।[55] अभिव्यक्ति के आधार रूप में अवस्थित परमतत्त्व का पक्ष प्रकाश और उस अभिव्यक्ति की शक्ति को विमर्श कहा जाता है। आभास या आभासित जगत् का विश्वचेतना से क्या सम्बन्ध है? उत्तर है, अभेद सम्बन्ध। क्योंकि यह चेतना बिम्बों की आधारभूमि भी है और उनकी ग्राहिका भी। इस प्रकार इस दर्शन में शिव से लेकर पृथ्वी तक के सारे तत्त्व परम तत्त्व में उसी प्रकार स्थित हैं जैसे विचार हमारी

आत्मा में। बाह्य उपादान की अपेक्षा के बिना चित् तत्त्व की इच्छा से इन्हें बहिर्वत् भासित किया जाता है।[56] विश्वात्मा के द्वारा व्यक्त किये जाने के कारण (आभास्यते) और आभासित (आभासते) होने के कारण इसे आभास कहा जाता है।

इस संदर्भ में शैव चिन्तक पाञ्चरात्र मत का अनुसरण करते हुए सृष्टि के दो स्तरों की चर्चा करते हैं–शुद्ध और अशुद्ध। इन्हें क्रमशः शुद्ध अध्वा और अशुद्ध अध्वा भी कहा जाता है। दो प्रकार की सृष्टियाँ क्यों? इसके दो उत्तर दिये जाते हैं। दोनों समाधान दार्शनिक भङ्गिमा लिये हुए हैं। यदि ईश्वर स्रष्टा है और आप्तकाम है (आप्तकामस्य का स्पृहा) तो सृष्टि में कर्म, नैर्घृण्य की कोई भूमिका नहीं रह जाती। यदि जगत् की रचना में कर्म की अपेक्षा बनी रहती है तो ईश्वर अनावश्यक हो जाता है। समाधान में शैव शुद्ध, अक्रम, कालरहित सृष्टि की बात करते हैं। कर्म-सृष्टि अशुद्ध सृष्टि है जिसका सम्बन्ध अज्ञानग्रस्त जीव से है। यह ईश्वर की साक्षात् सृष्टि न होकर उसके द्वारा नियुक्त शुद्ध प्रमाताओं के माध्यम से उपात्त सृष्टि है। दूसरा उत्तर है कि जब ईश्वर इच्छा करता है तब उसका अंत:स्थ विचार प्रकट हो जाता है, पर उसका चिदात्मा ईश्वर से अभेद बना रहता है। यह सृष्टि की शुद्धावस्था है–शिव से लेकर शुद्धा विद्या तक।[57] परम शिव निराभास है, पर पूर्ण है। उससे सृष्टि का आरम्भ होता है। पहला आरम्भ अहं का है (निराभासात् पूर्णादहमिति यत्)। तत्त्वों की भाषा में यह शिव और शक्ति तत्त्व की स्थिति है। वेद्य-वेदक भाव से विभाजन होने के कारण सदाशिव-भूमि का उन्मेष होता है–अहमिदम्। यह विकल्प प्रत्यक्ष में होने वाली अस्फुट प्रतीति से तुलनीय है। यह शुद्ध इच्छागत अस्फुट प्रतीति है। यही प्रतिभा है,[58] इसे ही पश्यन्ती कहते हैं। इसकी इच्छा मात्र से इच्छाविषय (इदं) सिद्ध हो जाता है, यही चिदात्मा देव की सनातन सृष्टि है। अन्तःस्फुरित को जब वह फिर क्रियान्वित करता है तब ईश्वर तत्त्व का उद्रेक होता है–इदमहम्। और क्रिया से स्फुटित अहंता और इदन्ता बराबर का वज़न रखने पर भी प्रमाता के अधिकरण पर बने रहते हैं। यह स्थिति है शुद्ध विद्या की। जब ईश्वर क्रिया के रूप में व्यक्त करना चाहता है–प्रमाता के बाहर, तब ईश्वर शुद्ध सृष्टि से बाहर आता है। जब तक परम शिव/ईश्वर अपने को प्रमाता के रूप में सीमित नहीं करेगा तब तक हमारा परिचित विश्व, व्यवहार-जगत्, आरम्भ नहीं होगा, जिसमें अपोहन-शक्ति के कारण विषय पृथक्-पृथक् हैं। पांडे की दृष्टि में इसे ही आणव मल कहते हैं।[59]

पांडे का यह मन्तव्य युक्त है कि काश्मीर शैव-दर्शन वेदान्त, बौद्धदर्शन और भर्तृहरि जैसे अद्वैतवादी दर्शनों की प्रत्यालोचना द्वारा अपने को एक युक्त्याश्रयी दर्शन के रूप में स्थापित करता है।[60] प्रत्यभिज्ञा दर्शन सांख्य दर्शन की प्रक्रिया और तत्त्व-मीमांसा को एक घटक के रूप में स्वीकार करता है पर इसके द्वैतवाद का तिरस्कार करता है। ऐसा करने में वह प्रायः अद्वैत वेदान्त की ही प्रक्रिया का आश्रय लेता है। पांडे का मत है कि उपनिषद् और ब्रह्मसूत्रों में पाये जाने वाले प्राचीन वेदान्त की काश्मीर शैव ईश्वराद्वैत से अत्यन्त निकटता के कारण अद्वैत वेदान्त की उतनी अधिक विवेचना यहाँ नहीं मिलती जितनी सांख्य की। यह बात भी सही है कि काश्मीर शैव अद्वयवाद को समझने के लिए वेदान्त की

समीक्षा द्वारा वहाँ पहुँचना बेहतर होता,[61] फिर भी चूँकि दोनों ही परम्पराएँ अपनी-अपनी आध्यात्मिक या आगम परम्परा पर निर्भर हैं, अर्थात् आगमानुसारी हैं, अत: इस पद्धति की बहुत उपयोगिता नहीं रह जाती।[62] मज़े की बात यह है कि पांडे के इस विचार को अभिनव का समर्थन मिलता है।[63] हाँ, यह कहना उचित होगा कि वेदान्त भी अद्वैत या ब्रह्माद्वैत तक द्वंद्वात्मक चिन्तन के द्वारा ही पहुँचता है। व्यवहार-बुद्धि की शपथ लेने वाले नैयायिकों ('संविदेव भगवती न: शरणम्' –हर पदार्थ की सत्ता का प्रमाण हमारी प्रतीति है) की सत् की अवधारणा में द्वंद्वात्मक कठिनाइयों की पकड़ उन्हें अद्वैत तक ले जाती है।[64] इन निष्कर्षों में वे प्रधानतया श्रुति और आवश्यक स्थलों पर तर्क की सहायता लेते हैं। हाँ, इस द्वंद्वात्मक चिन्तन पर महायान के प्रभाव के कारण गौडपाद और शंकर उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र के गतिशील और सर्जनात्मक परमतत्त्व का परित्याग कर माया की शरण लेते हैं, जबकि प्रत्यभिज्ञा के लिए चेतना का सार उसका विमर्श या क्रिया है। महायान और शंकर के लिए सारी क्रिया विक्रिया है, अत: कालातीत सत् में उसका प्रवेश वर्जित है। प्रत्यभिज्ञा के लिए जो भी नित्य है, शाश्वत है, वह अपेन को निर्मित क्रिया में अभिव्यक्त करता रहता है।[65] अभिनवगुप्त[66] और क्षेमराज[67] उन दर्शनों से अपने दर्शन के इस भेद को रेखांकित करते हैं।

बौद्धों की कठोर तर्क-प्रणाली और निर्मम आलोचना ने प्रत्यभिज्ञा को युक्ति और अनुमान का सहारा लेने के लिए विवश किया। अभिनवगुप्त बौद्धों को प्रधान प्रतिपक्षी मानते हैं, क्योंकि उनका विश्वास आत्मा की सत्ता में ही नहीं है।[68] चूँकि बौद्धों और काश्मीर शैव दार्शनिकों में प्रत्यक्ष संघर्ष नहीं हुआ इसलिए बौद्धों से उनकी लड़ाई द्विमुखी हो जाती है। एक ओर वे बौद्धों की मान्यताओं की परीक्षा करते हैं तो दूसरी ओर ईश्वर और आत्मा की अवधारणाओं और उनके प्रामाण्य में प्रयुक्त न्याय की अवधारणात्मक और तार्किक युक्तियों पर किये गये बौद्धों के प्रहार में असंगतियाँ और दुर्बलताएँ खोजते हैं। ऐसे में जैसे वेदान्तियों को व्यवहार में भाट्ट मत मान्य नज़र आया था (व्यवहारे भाट्टनय:), शैवाचार्य न्याय दर्शन को व्यवहार में उपयुक्त पाते हैं।[69] सच देखा जाए तो सत् की संघटना में मन या चित्त की केन्द्रीयता बौद्ध न्याय का प्राण है और नैयायिक के सद्वाद की तुलना में प्रत्यभिज्ञा के अधिक निकट है। नैयायिकों के असत्कार्यवाद और ईश्वर की निमित्तकारणतावाद की आलोचना में उत्पल और सोमानन्द किसी भी प्रकार की उदारता नहीं दिखाते, इसलिए व्यवहार में प्रत्यभिज्ञावादियों द्वारा न्याय के प्रति प्रदर्शित इस सौजन्य की महत्ता कहीं अधिक दूरगामी प्रतीत होती है। न्याय के अनुमानगत पंचावयवत्व को स्वीकार करते हुए पूरी **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका** को परार्थानुमान के रूप में प्रस्तुत करना और क्रिया, सम्बन्ध, सामान्य आदि अवधारणाओं को व्यावहारिक रूप से सत्य और कार्यकारी मानना लोक जीवन में नैयायिक मन्तव्यों की पारमार्थिकता को स्वीकार करना है।[70] इसका यह भी अर्थ है कि वे सत्–जैसे क्रिया, सम्बन्ध, सामान्य आदि–जो बौद्धों के

द्वारा युक्ति-परीक्षा में उपपन्न नहीं हो पाते और फिर भी व्यवहार में अनिवार्य हैं, शैव दर्शन में स्वीकार्य हो जाते हैं।[71]

जैसा कि हमने देखा, बौद्ध प्रधान विपक्ष की भूमिका निभाते हैं। बौद्ध दर्शन प्रारम्भ में आगमनानुसारी होने पर भी धीरे-धीरे आगम के प्रामाण्य से हटने लगता है। महायान में युक्त्युपपन्नता आगम की वैधता की कसौटी बनती है और वसुबन्धु के बाद बौद्धों के लिए केवल दो ही प्रमाण रह जाते हैं–प्रत्यक्ष और अनुमान। इस प्रकार धर्मकीर्ति और शान्तरक्षित के सम्प्रदायों के लिए आगम अपनी प्रयोजनीयता खो बैठते हैं और यही दोनों सम्प्रदाय प्रत्यभिज्ञा के लिए प्रतिनिधि पूर्वपक्ष की भूमिका निभाते हैं। यहाँ इस ओर ध्यान दिलाना उचित होगा कि चूँकि भर्तृहरि का सम्प्रदाय बौद्धों के लिए एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पूर्वपक्ष है, वह भी शैव दार्शनिकों के लिए मानक पूर्वपक्ष बनकर उभरता है।[72]

पांडे बौद्ध दर्शन और प्रत्यभिज्ञा के मध्य वैचारिक संघर्ष का सविस्तर गम्भीर विवेचन करते हैं।[73] हम यहाँ उनकी मूल स्थापनाओं का ही आकलन करेंगे। दोनों दर्शन नितान्त विरोधी पूर्वस्थापनाओं को लेकर चल रहे हैं। एक ओर घटमान निर्वैयक्तिक धर्मों का संसार है और दूसरी ओर अहं-चेतना की क्रियाशीलता से अनुप्राणित विश्व। एक ओर आत्मा, ईश्वर, विषयी और विषय की स्थायिता है तो दूसरी ओर अनात्मवाद, ईश्वर का अनस्तित्व, विषयी और विषय की अस्थायिता या क्षणिकता। बौद्धों का सत् का सिद्धान्त आत्यन्तिक रूप से द्वंद्वात्मक है और वही स्थिति काश्मीर शैव दार्शनिकों की भी है। बौद्धों के लिए सत् की पहचान उसके अर्थक्रियाकारित्व से है। वहाँ न किसी अवयवी की सत्ता है, न द्रव्य की और न ही अर्थक्रिया के अतिरिक्त किसी धर्म की।[74] बौद्धों के इस सिद्धान्त का उद्भव सांख्य, न्याय और वेदान्त आदि सम्प्रदायों के मतों की पृष्ठभूमि में हुआ था। बौद्धों के परिवर्तन के सिद्धान्त का जन्म सत्कार्यवाद, असत्कार्यवाद और विवर्तवाद के अस्वीकार से होता है। कार्यकारण-भाव यदि है तो उसका रूप है प्रतीत्यसमुत्पाद, अर्थात् कारणता घटनाओं का केवल व्यवस्थित क्रममात्र है। कोई चीज़ किसी को न उत्पन्न करती है और न किसी से उत्पन्न होती है। घटनाओं में न परस्परिक अन्त:क्रिया है और न सातत्य। सापेक्ष होने के कारण प्रत्येक घटना परतन्त्र है। सदृश कूटस्थ क्षणों के प्रवाह में गति या स्थिरता का प्रत्यय भ्रम मात्र है। व्यावहारिक पदार्थ या स्थिरता सत् पर आरोपित विकल्प मात्र है।[75]

जैसाकि हम देख चुके हैं, शैव आलोचना व्यवहार-बुद्धि (न्याय) से प्रारम्भ करती है पर नितान्त भिन्न तत्त्वमीमांसीय निष्कर्षों पर पहुँचती है। सम्प्रदाय के प्रथम दार्शनिक ग्रन्थ **शिवदृष्टि** में सोमानन्द का तर्क है कि 'अहं जानामि', 'स: जानाति' जैसे ज्ञानों को एक क्षण से अधिक की अपेक्षा होती है। सोमानन्द का दूसरा तर्क है कि क्षणिकता के कारण प्रमाता की अस्थायिता से कर्म-सिद्धान्त का अपलाप होता है। सोमानन्द के इस तर्क में नयी बात नहीं है। पर सोमानन्द की तीसरी आपत्ति दार्शनिक रूप में विशेष महत्त्व की है। वह यह कि विज्ञान, ज्ञान के रूप (विद्यारूप) में, नित्य है, अनित्य नहीं। यह दूसरी बात है कि स्वयं बौद्ध प्रज्ञप्ति और असंस्कृत धर्मों को नित्य मानते हैं। पर उनके लिए सामान्यत:

व्यावहारिक या आनुभविक ज्ञानों की कालिकता संवृतिमात्र है। सोमानन्द के अनुसार प्रत्यक्ष और प्रत्यभिज्ञान आदि प्रमाण भी क्षणिकता का निषेध करते हैं। हम प्रत्यभिज्ञान उसी वस्तु का करते हैं जो एक क्षण से अधिक रहती है और/या तब तक प्रत्यक्ष करते हैं जब तक उस ज्ञान का बाध नहीं होता। अपने उत्तर में बौद्ध प्रत्यभिज्ञा या सविकल्प प्रत्यक्ष (विकल्प) को सादृश्य से होने वाला भ्रम मानते हैं।[76]

पांडे का कहना है कि दोनों पक्षों के तर्क सत् की भिन्न अवधारणाओं पर आश्रित हैं। शैव तर्कों का व्यावहारिक पदार्थों से जो सम्बन्ध है वह स्थूल स्तर पर है जबकि बौद्ध तर्कों का सत् के सूक्ष्म स्तर से। बौद्धों के लिए इन्द्रिय-प्रदत्त का पर्याय स्वलक्षण वस्तुसत् है, न कि सामान्यलक्षण, संघात या संतान। कारणता घटित होती है स्वलक्षण, अर्थात् सूक्ष्म, स्तर पर। बौद्धों का कहना है कि एक क्षण, सन्मात्र, बीत कर, नष्ट होकर ही घटित या कार्यकारी हो सकता है।

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी में बौद्धमत की प्रत्यालोचना और भी गहरे स्तर पर होती है। कोई भी अचेतन पदार्थ घटित या क्रियाशील नहीं हो सकता जब तक उसे चेतन कर्त्ता या प्रेरक से प्रेरणा न मिले। इसलिए सारी क्रिया अन्ततः इच्छा का प्रकटन या अभिव्यक्ति मात्र है। सत्त्व या सत्ता का प्राण है उसका चेतना या संवित् में प्रकाशित होना, न कि किसी कार्य या अर्थक्रिया का निष्पादन करना। जहाँ तक प्रतीत्यसमुत्पाद का प्रश्न है, वह कार्य-कारण की परस्पर सापेक्षता को रेखांकित करता है और कारणता-सम्बन्ध को आवश्यक क्रम से एकाकार मानता है। अब शैव के लिए अपेक्षा-सम्बन्ध दो चित्तत्त्वों के मध्य ही सम्भव है, और यदि कारणता एक आवश्यक क्रम है तो शैवों का प्रश्न है कि यह क्रम सम्बन्धियों से एकरूप है या उनसे भिन्न है? यदि पहला, तो कारणता असम्भव है और यदि दूसरा, तो यह कारणात्मक शक्ति होगी इच्छा। क्योंकि आवश्यकता/अनिवार्यता का उदय केवल इच्छा में ही सम्भव है।[77]

कारणता-सम्बन्ध या नियत क्रम की चर्चा से सम्बन्धों के स्वरूप को लेकर ज़्यादा व्यापक प्रश्न पैदा होता है। यहाँ बौद्ध अवधारणा फिर द्वंद्वात्मक है। एक ओर स्वलक्षण की अर्थक्रियाकारिता की शब्दावली में एक क्षण के रूप में अवधारणा की जाती है तो दूसरी ओर द्रव्य, गुण, क्रिया, सामान्य की भाँति सम्बन्धों की परिकल्पना भी विकल्प के रूप में होती है। इस प्रकार यह अनादि विकल्प एक प्रागनुभविक आदिसिद्ध प्रत्यय होगा जो सामान्य लक्षण पर लागू होगा स्वलक्षण पर नहीं। यह ध्यान देने की बात है कि सम्बन्ध और अन्य धारणाओं का शैव बचाव भी स्वयं में भेद में व्याप्त अभेद की द्वंद्वात्मक पूर्वमान्यता पर आश्रित है। सृष्टि का अर्थ है विभेदीकरण, जो स्रष्टा—अन्तर्यामी और अतिक्रामी—के एकत्व का निराकरण करने में असमर्थ है। शैव और बौद्ध दोनों इस बात में सहमत हैं कि विकल्प-योजना जहाँ साक्षात्कारी चित्/विज्ञान का काम है वहीं विभेदीकरण का स्रोत है दृश्यमान् जगत्। दोनों में अन्तर केवल इतना है कि शैव विकल्पों को दृश्य जगत् को स्फुट करने वालों के रूप में देखते हैं, भ्रांति-जनक के रूप में नहीं।[78] ऐसा इसलिए है

क्योंकि अनुभव-जगत् या आभासित विश्व की नियामिका इच्छा उस ईश्वर की इच्छा है जो सारे अनुभव में अन्तर्व्याप्त अहं-चेतना से अभिन्न है। इसमें यह भी अन्तर्निहित है कि यद्यपि अनुभव के विषय और प्रमाता स्वरूपत: चिद्रूप हैं, वे माया, ईश्वर की तिरोधानकरी शक्ति, के आवरण के कारण अपने वास्तविक स्वरूप–शिवरूप–में भासित नहीं होते। इससे शैवों की बौद्धों से समता इस अर्थ में फिर उजागर होती है कि अनादि माया अनुभव के हमारे रोज़मर्रा के विश्व को सत्य के आवरक के रूप में (संवृति) जन्म देती है। पर अन्तर यह है कि शैव दार्शनिक जहाँ अहं-चेतना में अपने अस्तित्व के मूल और अहं-चेतना की सार्वभौमता, नित्यता और अपरिच्छिन्नता के आविष्करण के लिए अनुभव का विश्लेषण करता है वहां बौद्ध दार्शनिक अनुभव का विश्लेषण चित्त की भ्रान्त करने वाली शक्ति के रूप में या आनुभविक सत्ता के नैरात्म्य, उसकी सत्त्वहीनता प्रदर्शित करने के लिए करता है। शैव दार्शनिक जबकि अपनी परिच्छिन्न आत्म-चेतना का विस्तार करना चाहता है ताकि वह अनवच्छिन्न दिव्य चेतना का स्पर्श कर सके, बौद्ध दार्शनिक अपनी सीमित आत्म चेतना से पीछे हटना चाहता है ताकि अनभिलाप्य, अतीन्द्रिय या अतिक्रामी तत्त्व को पा सके।

किसी अर्थ में प्रत्यभिज्ञा और बौद्ध दोनों प्रत्ययवादी दर्शन हैं और दोनों में कतिपय आधारभूत समानताएँ हैं। प्रत्यभिज्ञा के लिए जड़ और बाह्यता मायिक विश्व के भीतर की साधारण घटना या अवभासन है। जहाँ तक वे शिव की शक्ति से जन्म लेते हैं वे सत् हैं, पर उनकी सत्ता माया से तिरोहित रहती है। योगाचार के लिए भी सत् का स्वभाव है शुद्ध, अपरिच्छिन्न[79] और कालातीत चैतन्य, जिसकी 'शिवतत्त्व'[80] से तुलना की जा सकती है। अविद्या परम सत् पर द्वैधीकरण को रोपती है। दोनों के लिए प्रत्यक्ष और अनुमान से प्राप्त व्यवहार-जगत् के पदार्थ अपने व्यावहारिक रूप में सत् हैं, यद्यपि दोनों के लिए वे अतीन्द्रिय अज्ञान से आवृत हैं और उनके वास्तविक स्वरूप के उन्मेष के लिए उस अज्ञान का भेदन अनिवार्य है। दोनों के लिए वे चेतना के विषय हैं। अन्तर यह है कि प्रत्यभिज्ञा के लिए विश्व-प्रमाता या आत्म-चेतना प्रत्येक सीमित पदार्थ और ज्ञानात्मक क्रिया में अन्तर्व्याप्त है और यह सिद्धान्त उसे आत्मसंकुलतावाद (सोलिप्सिज़्म) और मनोविज्ञानवाद दोनों की कठिनाइयों से बचा लेता है। अहंचेतना उसी प्रकार से अतिक्रामी तत्त्व है जैसे विज्ञप्तिमात्रता। बौद्धों के आवरण, अविद्या और वासना आदि प्रत्यय शैवों के मल के प्रत्यय से सहज ही तुलनीय हो जाते हैं।

इस बात को दुहराना उचित होगा कि जहाँ प्रत्यभिज्ञा के लिए सत्ता की परिभाषा प्रकाशमानत्व है, बौद्धमत के लिए यह अर्थक्रियाकारित्व है। परन्तु बौद्धों की यह परिभाषा व्यावहारिक स्तर पर ही मान्य है, क्योंकि असंस्कृत धर्मों की सत्ता नित्य मानी जाती है। दूसरी ओर, चेतना विषय को प्रकाशित ही नहीं करती वह स्वयं भी क्रिया में ही प्रसृत होती है, जिसके कारण पदार्थ उस रूप में भासित होते हैं जिस रूप में वे निर्मित किये गए हैं।

सम्पूर्ण घटना-व्यापार, सारी क्रिया, यहाँ तक कि जड़ पदार्थ भी, सभी उस चेतना के आभासन मात्र हैं।[81]

यह वह बिन्दु है जहाँ प्रत्यभिज्ञा और बौद्धमत का भेद खुलकर सामने आता है। प्रत्यभिज्ञा की परम सत्ता केवल चेतन ही नहीं है बल्कि उसका चित् आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया आदि शक्तियों से सम्पन्न भी है। अद्वय चेतना सर्वोच्च है किन्तु सर्जनात्मक और क्रियाशील भी है, जबकि बौद्धमत और वेदान्त में यह सर्वोच्च सत्ता अद्वय होने पर भी इच्छा और क्रिया से परे है। उनकी दृष्टि में यह अनिर्वचनीय पारगामिता है। इसलिए वे विविधता तथा परिवर्तन भरे इस विश्व का कारण अनादि वासना या माया में ढूँढते हैं, जो व्यवहार सत् का निषेध नहीं बल्कि निर्माण करती है।

देखा जाए तो काश्मीर शैवदर्शन, बौद्ध न्याय और न्यायदर्शन के तुलनात्मक अध्ययन में बहुत सम्भावनाएँ हैं। पांडे जैसे विद्वानों की प्रतिभा और व्युत्पत्ति के पारद स्पर्श की यहाँ प्रतीक्षा है। दोनों में कितना विनिमय हुआ है यह कहना कठिन है, पर शैव प्रमाण-शास्त्र और तत्त्व-मीमांसा पर बौद्धों का अकूत प्रभाव पड़ा है। इसका प्रमाण है प्रत्यभिज्ञा-दर्शन द्वारा बौद्ध प्रमाणशास्त्र की पारिभाषिक पदावली का अङ्गीकरण और उसकी सम्प्रदायानुगुण परिभाषा। स्वलक्षणाभास, सामान्यलक्षणाभास, अर्थक्रियासामर्थ्य, तादात्म्य, तदुत्पत्ति, स्वभावहेतु, कार्यहेतु, व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापकभाव, अनुपलब्ध के प्रकार इत्यादि अनेक अवधारणाओं को लिया जा सकता है। वे प्रत्यय भी जो भारतीय दर्शनों में सामान्यत: मान्य हैं, जैसे अनुमान, अर्थक्रिया आदि, उनकी परिभाषा में भी प्रत्यभिज्ञा-दार्शनिकों द्वारा बौद्ध-सम्मत प्रविधि और पद्धति का उपयोग किया गया है।[82] इसी प्रकार विकल्प के लिए अभिनवगुप्त 'अपोह' शब्द का प्रयोग करते हैं और अपोह की परिभाषा में ज्ञानश्री और रत्नकीर्ति के समन्वयवादी मत का अनुवदन करते हैं। रत्नकीर्ति कहते हैं, शब्द का मुख्य अर्थ विधि रूप है पर यह विधि अपोहविशिष्ट है, क्योंकि शब्द बिना अन्यव्यावृत्ति के अर्थ का प्रतिपादन नहीं करते।[83] अभिनव अपनी **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी** में विकल्प की परिभाषा करते हुए ठीक यही बात कहते हैं।[84] इसी प्रकार धर्मकीर्ति की भाँति शैव दार्शनिक भी प्रमाण और प्रमा में भेद न कर व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक भाव को स्वीकार करते हैं। इस प्रसंग में अभिनव प्रमाणवार्तिक को उद्धृत भी करते हैं। पर जहाँ प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में व्यापार प्रमा का प्राण है वहीं क्षणिकवाद की मान्यता के कारण बौद्ध व्यापार को अस्वीकार करते हैं।[85] बौद्ध दर्शन के इतिहास के अनेक अधूरे पन्नों और अध्यायों की पूर्ति के लिए काश्मीर शैवदर्शन के ग्रन्थ अमूल्य स्रोत हैं। बौद्धों के अनेक दार्शनिक उपसम्प्रदायों की चर्चा अभिनव अपनी विवृति-विमर्शिनी में करते हैं। यह भी देखना रोचक होगा[86] कि अभिनव दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के मतभेदों की चर्चा करते हैं, धर्मकीर्ति की विवशता की चर्चा करते हैं और धर्मकीर्ति को प्रामाणिक कहते हुए उनका दिङ्नाग की तुलना में अत्यन्त आदरपूर्वक स्मरण करते हैं।[87]

बौद्ध दर्शन और न्याय दर्शन दोनों भाषा को अपने आप में सत्य का मौलिक स्रोत नहीं मानते। यदि बौद्धों में भाषा एक साथ व्यावहारिक ज्ञान का स्रोत और भ्रान्तिजनक है तो नैयायिकों में उसका रूप केवल सम्प्रेषण का है और उसकी प्रामाणिकता वक्ता या प्रयोक्ता की विश्वसनीयता पर पूरी तरह निर्भर करती है। दूसरी ओर मीमांसक दृष्टि भाषा की सांकेतिक शक्ति को भाषा के स्वरूप में ही निहित मानती है। शब्द नित्य है और उसमें सत्य को व्यक्त करने की मौलिक क्षमता है। इसलिए वेद अनादि रूप से उपलब्ध माने जाते हैं।[88] आगे इसी धारणा का व्याकरण दर्शन और शैवागमों में परिष्कार से हुआ। पारस्परिक मतभेद के बाद भी इनकी दो स्थापनाएँ समान हैं–एक, शब्दों और अर्थों में आवश्यक सम्बन्ध है; दो, प्रत्येक उच्चरित शब्द की पृष्ठभूमि में उसके अनेक सूक्ष्मतर रूप हैं। बौद्ध और नैयायिक के अनुसार शब्द जहाँ अनित्य हैं और केवल संकेतार्थ या मुख्य (रूढ़) अर्थ देते हैं, वहीं मीमांसक, वैयाकरण और काश्मीर शैवों के यहाँ शब्द अपनी अन्तर्निहित अभिव्यंजक शक्ति[89] के साथ नित्य माने जाते हैं।[90] मीमांसक के यहाँ वर्ण और वैयाकरण के यहाँ स्फोट शब्द का नित्य अंश है। वैयाकरणों ने सारे शब्दों और अर्थों के एकमात्र स्रोत के रूप में शब्दब्रह्म की कल्पना की और उसे पश्यन्ती (=द्रष्टा शब्द) से अभिन्न माना। काश्मीर शैवों ने परावाक् का पश्यन्ती से भेद किया और परमशिव की चित्-शक्ति या विमर्श से उसकी एकता प्रतिपादित की।[91] भाषा का अन्तिम मूल अहं-चेतना या चेतना के अहंविमर्श में निहित है जिसके कारण चेतना सर्जनात्मक और अभिव्यंजक बनती है। भाषा की सहज प्रतीकात्मकता न नित्य है, न सांकेतिक, बल्कि अहं-चेतना की अभिव्यंजकता में निहित है। यहाँ हमारा साक्षात् काश्मीर के शैव दार्शनिकों की आधारभूत अन्तर्दृष्टि से होता है। भाषा अपने गम्भीरतम आयाम में सांकेतिक नहीं है अपितु सहज है, चेतना का स्वाभाविक रूप है।[92] विमर्श को वाक् और वाक् को विमर्श कहने का अर्थ है कि भाषा किसी बाह्य, जड़, भूत जगत् का प्रतीक नहीं है बल्कि मानसिक अर्थों की प्रतीक है। यह जगत् वैसा ही है जैसा हम अपने अनुभव को रूपायित करते हैं और अनुभव-निर्माण का आवश्यक संदर्भण अपने से या चेतना से होता है।[93]

पांडे के वाग्विचार की अन्तर्निहित तर्कणा को स्पष्ट करने के लिए कतिपय टिप्पणियाँ उचित होंगी। काश्मीर शैवदर्शन की वाक् की अवधारणा का दूसरे दर्शनों से भेद भाषीय आयाम की अपेक्षा कर्तृत्वमूलक आयाम पर आग्रह के कारण है। 'कहना' (वक्ति) यहाँ 'कहने की क्रिया करना' ('वचनं करोति' या 'वक्तुं शक्नोति') के बराबर है। यह 'करना' या 'क्रिया' प्रमाता का आन्तरिक स्वभाव है जिसका तार्किक पर्यवसान आत्मविमर्श में होता है। इस प्रकार वाक् 'आत्मविमर्शक ज्ञानगत कर्त्तृता' (आत्मविमर्शनकर्त्तृता) के रूप में परिघटित होती है।[96] दूसरे, शब्दन का अर्थ यहाँ शब्द न होकर शब्दन-क्रिया है। अभिनवगुप्त आंशिक रूप से भर्तृहरि के मत को आगे बढ़ाते हैं जब वे वाच्य पर वाचक के 'अध्यास' द्वारा सांसारिक व्यवहारों का निष्पादन मान लेते हैं। 'शब्दन-क्रिया' प्रमातृगत स्वातन्त्र्य का अविभाज्य अंग है और सामान्य रूप से विमर्श में या विमर्श द्वारा [illegible]क होती

है। शब्द (वाचक) और शब्दन-क्रिया (अभिधान व्यापार) दो भिन्न पदार्थ हैं जबकि शब्द प्रमेय या ज्ञानात्मक वस्तु है, शब्दन-क्रिया विमर्शात्मक व्यापार है जिसका लक्ष्य शब्द का अर्थ बताना है। यही कारण है कि शब्दार्थ को शब्द-क्रिया के रूप में वर्णित किया जाता है। फलतः शब्द और अर्थ दोनों ही विमर्श स्वभाव सिद्ध होते हैं।

ऊपर की विचार-सरणि के आलोक में पांडे द्वारा प्रस्तुत शैव मीमांसा में आगम को दिये गए असामान्य महत्त्व का कारण समझ में आने लगता है। आगम की सम्भावना ही इसलिए है कि वह स्वयं चरम सत् में अन्तःस्थ किसी सत् की अभिव्यक्ति है।[97] मध्यमा के स्तर पर चेतना की आत्माभिव्यक्ति तर्क या बौद्धिक ज्ञान से मिश्रित हो जाती है। बौद्धों ने बड़े विश्वसनीय ढंग से यह प्रदर्शित कर दिया है कि कल्पना या विकल्प का आधार सत् की संरचना नहीं है।[98] शैवों का तर्क है कि विमर्श और विकल्प में अन्तर है। शैवों की पारिभाषिक शब्दावली में चिद्रूपप्रत्यवमर्श और विकल्परूपप्रत्यवमर्श में भेद है, यद्यपि बौद्धों से भिन्न शैव विकल्पों को भी सत् पर आधृत मानते हैं। अन्तर केवल इतना है कि विकल्प वस्तु के मौलिक स्वरूप से ध्यान बटाकर व्यावहारिक रूप दिखाने लगता है।

अतएव यदि दर्शन आगमविश्रान्त है और आगम यदि वैखरी में परा का अनुवदन या अवतरण है तो मूल आगम और ऐतिहासिक रूप से उपलब्ध आगम के बीच के अन्तराल को समंजस ढंग से कैसे समझाया जाय? उपलब्ध दार्शनिक मत या सिद्धान्त स्पष्टतः ऐतिहासिक रूप से उपलब्ध आगमों से ही सम्बन्ध रखते हैं। ऐसी स्थिति में आगम संशयित हो उठते हैं। शैव इसके लिए सत्तर्क के साधन का उपयोग करते हैं।[99] शैवों के अनुसार सत्तर्क भी विमर्शन की प्रक्रिया का या आगमों की बोध-प्रक्रिया का अंग है : 'अंगीकृतस्तु सत्तर्को योगाङ्गेषु तथापि च'।[100] शाक्तोपाय, जिसका सम्बन्ध चित्त-संबोध या विकल्प-संस्कार या ज्ञान से है, उसमें सत्तर्क का अत्यधिक महत्त्व है। सत्तर्क का अर्थ है–सम्यक् तत्त्वोन्मुख चिन्तन द्वारा सत्य का अवबोध।[101] वेदान्त में भी उच्च कोटि के अधिकारियों के लिए केवल श्रवण मात्र से सत्य के साक्षात्कार की सम्भावना बतायी गई है। इस सत्तर्क को शुद्धविद्या की स्थिति से, जिसका अर्थ है शुद्ध वेदन, समीकृत किया गया है। सत्तर्क ऐतिहासिक, कालिक रूप में प्राप्त आगम और मूल आगम के विच्छेद को दूर कर माहेश्वर विमर्श तक ले जाता है।

शब्द और शब्दन-क्रिया, शब्द और अर्थ के अद्वय को लेकर पांडे कहते हैं "वैदिक साहित्य में जिसे वाक् और मन का, अथवा वाक्-प्राण का मिथुन कहा गया है उसे वैयाकरण शब्द और प्रत्यय का अनुवेध, बौद्ध गण शब्द और विकल्प की अन्यान्यहेतुकता, एवं काश्मीरी शैव आचार्य प्रकाश और विमर्श का तादात्म्य बताते हैं। वाक् को चेतना की अर्थरूप में आत्मप्रकाश की शक्ति कहा जा सकता है।"[102] पांडे इस स्थापना का विस्तार सौन्दर्य शास्त्र तक पाते हैं। उनके अनुसार शिव और शक्ति की इस एकता की भाँति शब्द और अर्थ के इसी अभेद से रस (जो स्वयं में व्यंग्य अर्थ है) के अनन्त संसार की रचना होती है।[103]

सन्दर्भ :

1. प्रोफेसर पांडे के काश्मीर शैवदर्शन सम्बन्धी विचार उनके प्रकाशित ग्रन्थों में संदर्भगत्या बिखरे रूप में मिलते हैं। उस प्रसंग में उनकी **Foundations of Indian Culture** का द्वितीय खण्ड; **भारतीय परम्परा के मूल स्वर; साहित्य, सौन्दर्य और संस्कृति और सौन्दर्यदर्शनविमर्श:** विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन पुस्तकों में उनके विचार सिद्धान्त विशेष को लेकर साक्षात् रूप से भी उपलब्ध होते हैं और प्रतिपादन के दौरान सामान्य मंतव्यों को लेकर काश्मीर शैव स्रोतों से उद्धरणों के रूप में परोक्षतया भी। इन अपरोक्ष प्रतिपादनों से हमें उनके विचारों की दिशा समझने में सहायता मिलती है। उनके क्रमबद्ध विचारों के लिए हम दो अप्रकाशित स्रोतों का भी उपयोग करेंगे। इसमें प्रथम है "**Reflection on Pratyabhijna and Buddhism**" जो स्व. प्रो. कान्तिचन्द्र पांडेय की स्मृति को समर्पित "Perspectives on Abhinavagupta" (इन पंक्तियों के लेखक द्वारा सम्पादित) नामक प्रकाशनाधीन स्मृति ग्रन्थ में संकलित है और दूसरा है लखनऊ विश्वविद्यालय के अभिनवगुप्त संस्थान में डॉ. कान्तिचन्द्र पांडेय भाषणमाला (अगस्त 5-7, 1998) के अन्तर्गत "Essential Features of Kashmir Saivism" शीर्षक काश्मीर शैवदर्शन पर दिये गये उनके भाषण के मेरे नोट्स। इसमें पहले लेख का सम्बन्ध है "बौद्ध और वेदान्त दर्शन से उनके घनिष्ठ सम्बन्ध के परिप्रेक्ष्य में काश्मीर शैवदर्शन के दार्शनिक आधारों का समीक्षात्मक विवेचन" और दूसरे का "काश्मीर शैवदर्शन की मुख्य विशेषताएं" से।
2. "Kashmir Saivism represents the most remarkable system of monistic theism." – Foundations of Indian Culture, vol. II : Spiritual Vision and Symbolic Form in Ancient India (FIC) New Delhi, 1984, p. 140.
3. "... in its essential theistic monism." Reflection on Pratyabhijna and Buddhism (Reflection).
4. "Essential features of Kashmir Saivism" (EFKS), कान्तिचन्द्र पांडेय स्मारक भाषणमाला
5. तर्कस्य कर्त्तारो व्याख्यातारश्च। – **तंत्रालोक** 1.10 (तं.) पर जयरथकृत विवेक (तं.वि.), (सं.) रा.च. द्विवेदी और नवजीवन रस्तोगी, भाग 1, दिल्ली 1997, पृ. 30
6. लोकशास्त्रप्रसिद्धानां मतानां यद्विवेचनम्।
आत्मप्रतीतिसिद्धानामथवा यद्विमर्शनम्।
सर्वविद्यादृतत्त्वानां न्यायतत्त्वविमर्शनम्॥ –EFKS
7. किंचिदागम्यते तत्त्वमुभयत्रापि सिद्धवत्।
शैवादिदर्शने तद्धि मुख्येनागम इत्यते॥ –वही
8. Reflection; और भी;
किं तावत् दर्शनं नाम विद्याया: शैवसूरिभि:।
दृग्दृष्टिनयसिद्धान्तव्यपदेशैर्विवक्षिता॥ –EFKS
9. Reflection
10. भा.प. मू. स्व., पृ. 30
11. चैतन्यमात्मा। –शि.सू. 1.1 (पांडे द्वारा उद्धृत, भा.प.मू. स्व., पृ. 30)

12. आत्मात एव चैतन्यं चित्क्रियाचितिकर्तृता।
तात्पर्येणोदितस्तेन जडात्स हि विलक्षण:॥ –ई.प्र.का. 15.12

13. तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्। –यो.सू. 1.3 – पांडे द्वारा उद्धृत, भा.प.मू.स्व., पृ. 30

14. ई.प्र.वि. (भा.) 1, पृ. 245

15. द्रष्टा दृशिमात्र:...। – यो.सू. 2.20 (वही, उद्धृत)

16. भा.प.मू. स्व., पृ. 30

17. चिति: स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतु:। –प्र.हृ. 1

18. चितिरेव चेतनपदादवरूढा चेत्यसंकोचिनी चित्तम्। –वही, 5। पांडे को प्रत्यभिज्ञाहृदय का यह सूत्र अत्यन्त प्रिय है। इसे वे प्राय: उद्धृत करते हैं। देखिए EFKC; तुलना कीजिए, धम्मपद 1.1: मनोपुब्बंगमा धम्मा मनोसेट्ठा मनोमया।

19. भा.प.मू. स्व., पृ. 41

20. वही, पृ. 47-48

21. FIC, पृ. 144

22. FIC, पृ. 146

23. भा.प. मू.स्व., पृ. 56

24. वही, पृ. 57

25. इच्छाशक्तिरुमा कुमारी। –शि.सू. 1.13

26. भा.प.मू.स्व., पृ. 57; तुलना कीजिए "स ऐक्षत" इति। "ईक्षणं ह्यत्र तावद् द्वितीयाभावात् स्वविषयमेवेष्टम्, स एव चाहपरामर्श:।" अस्य तु जडत्वेन परामर्शे शक्तत्वं नास्ति। ई.प्र.वि. 1.1.1 पर भास्कर कण्ठ कृत भास्करी, 1, पृ. 14

27. वही, पृ. 125

28. वही, पृ. 21

29. देखिए FIC, पृ. 153-156 : "Smritis, Puranas and Tantras" अध्याय में "Tantric Alchemy" शीर्षक उपनिबन्ध

30. वही, पृ. 154

31. Tantra is the science of Word applied to gain communion with the Divine. –वही

32. सच्चिदानन्दविभवात् सकलात् परमेश्वरात्।
आसीच्छक्तिस्ततो नादो नादाद् बिन्दुसमुद्भव:॥ –शा.ति. 1.7—
पुष्पिका और राघवभट्ट की परार्थादर्श टीका के आधार पर शारदातिलक आचार्य लक्ष्मणगुप्त की कृति है। परन्तु अनेक विद्वान् इससे असहमत हैं। इस सम्बन्ध में देखिए मेरी Krama Tarticism, भाग 1, दिल्ली, 1979 पृ. 147-149

33. FIC, पृ. 155, 159 (पादटिप्पणी 8)

34. शि.सू. 2.1 (काश्मीरग्रन्थावलि)

35. पांडे का प्रतिपादन टीकाकार क्षेमराज के मन्तव्यों को प्रतिध्वनित करता है : "चेत्यते विमृश्यते अनेन परं तत्त्वम् इति चित्तं", –तदेव मन्त्र्यते...इति कृत्वा मन्त्रः। "अथ च मन्त्रदेवताविमर्शपरत्वेन प्राप्ततत्सामरस्यम् आराधकचित्तमेव मन्त्रः।" –शि.सू.वि., पृ. 23

36. FIC, पृ. 156, 159 (पादटिप्पणी 9)। देखिए "स्फुरत्तासारस्पन्दशक्तिमयशङ्करात्मक-स्वस्वभावप्रतिपादनायैव चेदं शास्त्रं समुचितस्पन्दाभिधानं महागुरुभिर्निबद्धम्।...वस्तुतस्तु न किञ्चिदुदेति व्ययते, वा केवलं स्पन्दशक्तिरेव भगवत्यक्रमापि तथातथाभासरूपतया स्फुरन्त्युदेतीव व्ययत इव चेति।" –स्पन्दकारिका 1.1 पर क्षेमराज की निर्णय टीका, जयदेवसिंह (अंग्रेजी संस्करण), दिल्ली, 1980, पृ. 6-7

37. एकैव सा महाशक्तिस्तया सर्वमिदं ततम्। "उद्धृत, EFKS (स्रोत अनुपलब्ध)"; तुलना कीजिए:
गुणादिस्पन्दनिष्यन्दा/ सामान्यस्पन्दसंश्रयात्।
लब्धात्मलाभाः सततं स्युर्ज्ञस्यापरिपन्थिनः॥ –स्प.का. 1.19

38. "In fact, desire, knowledge and will represent three stages...." FIC, p. 156; यहाँ 'Action' की जगह 'will' का मुद्रण छापे की गलती जान पड़ती है।

39. FIC, पृ. 156 सं. को.अ. अय्यर और का.च. पांडेय, दिल्ली, 1987, 1

40. EFKS

41. "I bow to that Absolute, which is unity of Paramasiva and Sakti; the Unity, which from its ultimate state, first of all manifests the Pure Ego 'I' and then through its will, divides its power into two; the Ultimate State, which, being without any manifestation is self-contained and is responsible for Creation and Dissolution through the play and suspension respectively of its Power." (Tr. by K.C. Pandey, Bhaskari, vol. 3, p. 1)

42. EFKS यहाँ यह स्पष्ट करना उचित होगा कि शिव, शक्ति, सदाशिव इत्यादि की तत्त्वभाव में कल्पना और शिव-शक्ति की परमतत्त्व के स्वरूपघटक के रूप में परिकल्पना ये दोनों भिन्न हैं। प्रकाश-विमर्श के पर्यायरूप में शिव-शक्ति अधिक मौलिक प्रत्यय है, जैसा आगे स्पष्ट होगा।

43. FIC, पृ. 140

44. वही, पृ. 141

45. वही, पृ. 160

46. तदेवं परत्वेन प्रधानतया अभिसंधाय आत्मा चेतन इति वक्तव्ये धर्मान्तराधरीकरणाय विमर्शधर्मोद्धुरीकरणाय च 'आत्मा चैतन्यम्' इति उक्तम्। –ई.प्र.वि., 1, पृ. 258-9

47. साहित्य, सौन्दर्य और संस्कृति (सा.सौ.सं.), गो.च. पांडे, इलाहाबाद, 1994, पृ. 25

48. स्वभावमवभासस्य विमर्शं विदुरन्यथा। –ई.प्र.का. 1.5.11

49. सा.सौ.सं., पृ. 26

50. EFKS प्रो. पांडे के वक्तव्य में मानो अभिनवगुप्त का कथन प्रतिच्छायित हो उठा है : "प्रतिभाति घटः इति यद्यपि विषयोपश्लिष्टमेव प्रतिभानं भाति तथापि न तद्विषयस्य स्वकं वपुः, अपितु संवेदनमेव तत् तथा चकास्ति 'माँ प्रति भाति' इति प्रमातृलग्नत्वात्।" तथा च वेदः–'तमेव भान्तमनु भाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इति। –ई.प्र.वि., 1, पृ. 349-50

51. EFKS

52. उद्धृत EFKS; भास्करकण्ठ द्वारा उद्धृत, –ई.प्र.वि., 1, पृ. 48

53. EFKS

54. स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति। –प्र.हृ. 2

55. निर्मले मुकुरे यद्वत् भान्ति भूमिलतादयः।—मR}अमिश्रास्तद्वदेकस्मिंश्चिन्नाथे विश्ववृत्तयः॥ –तं.आ. 2.4

56. चिदात्मैव हि देवोऽन्तःस्थितमिच्छावशाद्बहिः।
योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत्॥ –ई.प्र.का. 1.5.7

57. डॉ. कान्तिचन्द्र पांडेय स्मारक भाषणमाला, तीसरे दिन का सौन्दर्यशास्त्र परक भाषण

58. यहाँ विचारणीय है–व्याकरण दर्शन में प्रतिभा पश्यन्ती से एक रूप हो सकती है, परन्तु शिवाद्वयवाद में प्रतिभा परास्थानीय है, पश्यन्तीस्थानीय नहीं। प्रतिभा के दो समीकरण मिलते हैं। काव्यशक्ति के रूप में जिस प्रतिभा का ग्रहण होता है वह सदाशिव से ऊपर शक्तितत्त्व से सम्बन्धनीय है। मम्मट ने उसे 'शक्ति' कहा भी है (शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यासः इति हेतुस्तदुद्भवे)। तन्त्रालोक और परात्रिंशिका में उसे प्रतिभाचमत्कृति कहा गया है। अभिनवगुप्त ध्वन्यालोकलोचन के पहले उद्योत के समापन श्लोक में 'परा' वाक् की 'प्रतिभा' कहकर वन्दना करते हैं
यदुन्मीलनशक्त्यैव विश्वमुन्मीलति क्षणात्।
स्वात्मायतनविश्रान्तां वन्दे तां प्रतिभां पराम्॥
दूसरी प्रतिभा है परम प्रमाता के, महेश्वर के, विश्वमय पक्ष से एकरूप। इस अर्थ में वह सारी सृष्टि और उसकी परम चिद्रूपता की वाचक है–
या चैषा प्रतिभा तत्तद्पदार्थक्रमरूषिता।–
अक्रमानन्तचिद्रूपः प्रमाता स महेश्वरः॥ –ई.प्र.का. 1.7.1

59. आणव मल की शास्त्रीय अवधारणा थोड़े भिन्न प्रकार की है। आणव मल का व्यापार तो शुद्ध सृष्टि से प्रारम्भ हो जाता है। शिवतत्त्व के आविर्भाव में भी तिरोधान शक्ति सक्रिय रहती है–विमर्श का निषेध और प्रकाश का उद्रेक, अहंभाव का उद्रेक आदि इदंभाव का निषेध–यही शिवतत्त्व है। तिरोधान-शक्ति और अपोहन-शक्ति यद्यपि आपाततः एक ही अर्थ को देती हैं परन्तु संदर्भ-भेद से। तिरोधान-शक्ति अस्तित्वमूलक शक्ति है और अपोहन ज्ञानमूलक। अस्तित्वगत परिसीमन में तिरोधान और बोधगत परिसीमन में अपोहन की कार्यकारिता है। परन्तु ऊपर वक्तव्य की मूल आत्मा में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

60. Reflection

61. EFKS

62. Reflection

63. पारमेश्वरेषु तावदागमेषु शेववैष्णवरहस्येषु च स्पष्टमेवोक्तोऽयमस्मदुक्तोऽर्थः। –ई.प्र.वि.वि. 3, पृ. 405

64. EFKS

65. Reflection

66. ...ब्रह्मवादे मायां शक्तीकृत्य...सिध्यत्येष जनः। –ई.प्र.वि.वि.

67. स्वतन्त्रशब्दो ब्रह्मवादवैलक्षण्यमाचक्षणश्चितो माहेश्वर्यसारतां ब्रूते। –प्र.हृ., काश्मीर ग्रन्थावलि, पृ. 5.

68. आत्मन एव सद्भावे ये विप्रतिपन्ना...त एव इह मूलविपक्षाः। –ई.प्र.वि.वि. काश्मीर ग्रन्थावलि, 1, पृ. 112

69. Reflection

70. इत्येवं पञ्चावयवात्मकमिदं शास्त्रं परव्युत्पत्तिफलम्। नैयायिकक्रमस्यैव मायापदे पारमार्थिकत्वम् इति ग्रन्थकाराभिप्राय: 'क्रियासम्बन्धसामान्य' (ई.प्र.का. 2.2.1) इत्यादि उद्देशेषु प्रकटीभविष्यति। –ई.प्र.वि., 1, पृ. 43; और भी देखिए ई.प्र.वि. 2, पृ. 140

71. एकानेकरूपस्य क्रियादेः बाह्यवादे विरुद्धधर्माध्यासदूषणेन अनुपपद्यमानस्याप्यवश्यं समर्थनीयं वपुः। –ई.प्र.वि., 2, पृ. 32, रफेल टोरेला द्वारा "The Pratyabhijna and the logical Epistemological School of Buddhism" (PLSB), Rilual and Speculation, ed. T. Goudriaan, Albany, 1992, पृ. 339

72. Reflection

73. Reflection

74. Reflection

75. Reflection

76. Reflection

77. Reflection

78. Reflection

79. Reflection

80. शिव और शिवतत्त्व में अन्तर है। शिवतत्त्व, विश्वमय शिव, तत्त्व-प्रविभाग में सबसे पहले आता है। परन्तु यहाँ विज्ञानवाद में जो परम तत्त्व की परिकल्पना है वह विज्ञान रूप है, जो शिव या परमशिव से तुलनीय है।

81. प्रत्यभिज्ञादर्शने हि विज्ञानवादवत् प्रकाशाभिन्ना आभासा एव गम्यन्ते। –सौन्दर्यदर्शनविमर्शः, गो.च. पांडे, वाराणसी, पृ. 100

82. PLSB, पृ. 329-330; देखिए अभिनवगुप्त कृत अनुमान की परिभाषा : "अनुमानजा तु प्रतीतिः आभासान्तरात् कार्यरूपात् स्वभावरूपाद्वा आभासान्तरे प्रतिपत्तिः।" –ई.प्र.वि., 2, पृ. 84

83. "नास्माभिरपोहशब्देन विधिरेव केवलोऽभिप्रेतः। नान्यव्यावृत्तिमात्रम्। किन्तु अन्यापोहविशिष्टो विधिः शब्दानामर्थः।" –अपोहसिद्धि, धर्मकीर्तिनिबन्धावलि, सं. अनन्तलाल ठक्कुर, पटना, 1957, पृ. 59; देखिए अपोहसिद्धिविमर्श, गो.च.पां., सारनाथ, 1995, पृ. 47

84. "अन्तर्लीनीकृतप्रतियोग्यभावविशिष्टविधिप्रधानवस्तुनिष्ठाः।" –ई.प्र.वि. 1.6.2, पर टोरेला की टिप्पणी, पृ. 130

85. "एवं यतो नीलप्रकाशः ततो नीलमिदम् इति परामर्श इति एकरूपत्वेऽपि हेतुफलभावः, यथोक्तं तद्वशात्तदव्यवस्थानात्...।" (प्र.वा. 3.308) इति। किं च इह व्यापाररूपमेव फलं व्यापारश्च व्याप्रियमाणात् व्यापार्यमाणाद्वा अनन्याकार एवं सिद्ध इति अभेदः प्रमाणफलयोः विमर्शबलेन च। –इ.प्र.वि. 2, पृ. 74-75

86. "By restoring the historical resonances between Helaraja's text and the texts of the two Buddhist philosophers, I hope to illuminate some of the more elliptical aspects of the Prakirnaprakasa and perhaps account, in some measure, for the respect in which Dharmakirti, and not Dignaga, was held by the Kashmiri Saivite schools to which both Helaraja and the great Abhinavagupta belonged." –Bhartrhari and the Buddhists, Radhika Herzberger, Holland, p. 1986, पृ. 12

87. प्रामाणिकोऽप्यार्यधर्मकीर्तिरार्यदिग्नागग्रन्थानुरोधात् तत्पक्षपातादेवम् अभिधत्ते, न पुनरस्य स्वरुचिरेषेति। – उद्धृत, वही, पृ. 3

88. अत एव च नित्यत्वम्। –ब्र.सू. 1.3.29, उद्धृत, FIC, पृ. 180

89. 'सांकेतिक शक्ति' के स्थान पर 'अभिव्यंजक शक्ति' कहना परम्परा के अधिक अनुकूल और कम भ्रामक होगा। –भा.प.मू.स्व., पृ. 95

90. FIC, पृ. 180-81

91. केचित् पारमेश्वरीं विमर्शशक्तिमेव शब्दमूलं वदन्ति तथा च प्रत्यभिज्ञामतम्। – भक्तिदर्शनविमर्शः, गो.च. पांडे, वाराणसी, 1991, पृ. 30, 36; मूल से मिलाइए–

    चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परा वाक् स्वरसोदिता।
    स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमात्मनः ॥ –ई.प्र.का. 1.5.13;3

92. प्रत्यवमर्शश्च आन्तराभिलापात्मकशब्दनस्वभावः, तच्च शब्दनं संकेतनिरपेक्षमेव अविच्छिन्न-चमत्कारात्मकम्...। –ई.प्र.वि., 1, पृ. 252

93. FIC, पृ. 182

94. The life and Death of Language, G.C. Pande, Diogenes, 51. पृ. 193-94

95. FIC, पृ. 182

96. वक्ति विश्वम् अभलपति प्रत्यवमर्शेन इति च वाक्, अतएव सा चिद्रूपतया स्वात्मविश्रान्तिवपुषा उदिता सदानस्तमिता नित्या अहमित्येव। –ई.प्र.वि. 1, पृ. 253-54

97. आगमस्तु नाम आन्तरशब्दनरूपो दृढीयस्तमविमर्शात्मा चित्स्वभावस्य ईश्वरस्य अंतरङ्ग एव व्यापारः प्रत्यक्षादेरपि जीवितकल्पः। –वही, 2, पृ. 84-85; आगमस्त्वपरिच्छिन्नप्रकाशात्मक-माहेश्वरविमर्शपरमार्थः किं न पश्येत्। –वही, पृ. 213

98. EFKS

99. EFKS

100. यह उद्धरण मुझे तन्त्रालोक में नहीं मिला।

101. सत्तर्क : शुद्धविद्यैव सा चेच्छा परमेशितुः। –तं. 4-34

102. भा.प. मू.स्व., पृ. 95

103. FIC, पृ. 275

शल्य जी का सत्य-शीर्षक लेख*

एक प्रश्न-उठाती टिप्पणी

उन्मीलन के पिछले अंक में छपे शल्य जी के इस लेख में एक नई बात है जो बात के कहने के *स्वर* में है। एक व्याकुलता है, जो उनके दार्शनिक लेखन में अन्यथा नहीं उभरती - दार्शनिक लेखन में यह स्वाभाविक भी है। पर मैं समझता हूं कि प्रस्तुत लेख में जो *भाव* उभर कर आया है वह शल्य जी के दर्शन से ही उभरा है, हालांकि दर्शन के विवेचन और सिद्धान्त-निष्ठ लेखन में प्रकट नहीं होता। इस लेख में विवेचना की जगह संवेदना प्रखर हो आई है, इसीलिये वेदना भी मुखर है। पर यह भी दिखता है कि जो व्याकुलता यहां है वह दार्शनिक की व्याकुलता है। उसे एक आधारगत द्विधा-बोध भी कह सकते हैं, एक विरोधमयी उभय-निष्ठता, जो मैं समझता हूं कि शल्य जी के विचार में ही रूप लेती देखी जा सकती है। यह आगे दिखाने की चेष्टा करूंगा। यों भी इतना तो स्पष्ट ही है कि वेदना यहां विचारक की, विचार की वेदना है। सत्य और जो सत्य प्रतीत होता है, उसके निकष का *विरह* सताता है यहां संवेदनशील विचारक को - जो अन्यत्र यों *विरह* के रूप में अभिव्यक्त नहीं होता। विचार के सहज प्रश्नशील, संशयशील स्वरूप को ध्यान में रखें तो यों भी विचार के लिये सत्य का विरह विचार में पिरोया सा रहता है : सत्य के जिन भी आधारों पर पाँव पड़ते हैं वहां चोरमिट्टी निकलती दिख सकती है। पर विचार संशय को अपने भीतर ही समोता-झेलता चलता है - भावना की चौखट से दूर ही रखना चाहता है। पर *इस* लेख को पढ़ते हुए मुझे लगा जैसे सत्य के नित्य-विरह की *आकृति* को शल्य जी ने जानबूझ कर यहां स्वर दिया है। दार्शनिक का कवि-हृदय बोल रहा है यहां।

शल्य जी कहते हैं - कहते रहे हैं - सत्य के बारे में 'सत्य को विषय रूप से जानना' उतना बड़ा प्रश्न नहीं है जितना कि 'सत्य होना' है। वस्तु का अपने स्वरूप में होना, यही सचमुच *सत्य* है। यह दृष्टि 'सत्य' को 'सार्थक' की ओर ले जाती है। सत्य का निकष चेतना-प्रधान हो जाता है और चेतना का अपना सत्य सत्य का मूल प्रश्न हो जाता है।

सत्य का प्रश्न उठता ही मनुष्य की आत्मचेतना में है। शल्य जी के पाठक जानते ही हैं कि आत्मचेतना को ही आधार बना कर शल्य जी ने अपने तत्त्व-दर्शन का विचार-

---

* जनवरी 2004 में हुई उन्मीलन-गोष्ठी में उन्मीलन के जुलाई 2003 अंक में प्रकाशित 'सत्य' शीर्षक लेख पर चर्चा हुई थी। मुकुंद जी और डॉ. भटनागर की ये टिप्पणियां उस गोष्ठी के लिए लिखी गई थीं।

तन्त्र उभारा है। यह भी उनके पाठक जानते हैं कि शल्य जी का तत्त्व-चिंतन अपनी तरह का अद्वैत-निष्ठ चिंतन है जहां सृष्टि को चित् के आत्मसृजन के रूप में देखा गया है।

उनके चिंतन में चित् (या आत्म) और उसके स्वरूपगत सृजन-व्यापार का तत्त्वरूपेण प्रतिपादन आत्मचेतना के अनुभव-विवेच्य स्वरूप के संकेत का विकास कहा जा सकता है। शल्य जी मनुष्य के आत्मचेतन व्यापार को चित् के आत्मसृजन-व्यापार का *प्रतीक* कहते हैं। परम तत्त्व के रूप में चित् के *स्वरूप* का इंगित या उसकी कोई अर्थमयी पहचान हम ढूंढें तो वह हमें हमारी चेतना में मिल सकती है - जो चेतना कि *हम* में यह विशेष प्रवृत्ति रखती है कि वह आत्मचेतन होती है। उसके आत्मचेतन होने का अर्थ है उसका अपने में रहते हुए भी अपने से हट कर रह पाना, अपने प्रति सचेतन होना - अपनी ओर प्रत्यङ्मुख हो पाना। अपनी ओर प्रत्यङ्मुख हो कर वह अपना सत्य भी ढूंढती है। हम पशुओं में देखते हैं कि चेतना विशुद्ध प्रवृत्तिमय होती है, अपने बाहर ही व्यस्त-व्यग्र रहती है - अपने विषयों में लीन। मनुष्य पशुओं से इस बात में विलक्षण है कि मनुष्य में आकर चेतना बाहर ही नहीं प्रवृत्त रहती अपने भीतर भी अपनी ओर मुड़ जाती है (मैं देखता ही नहीं हूं, मैं यह भी देखता हूं कि मैं देखता हूं, और मेरा यह देखना और भी पीछे मुड़ता चला जा सकता है; विचार में तो विचार पर विचार और उस पर विचार, आत्मचेतना का यह प्रत्यङ्मुख स्वरूप साफ ही झलकता है)।

चेतना की सहज प्रवृत्ति में एक ग्राह्य-ग्राहक भाव होता है जो अनात्मचेतन चेतना में चेतना की अपने से बाहर जाती प्रवृत्ति में डूबा रहता है। यह ग्राह्य-ग्राहक भाव चेतना के अपने प्रकाश में तब आता है जब चेतना अपने प्रवृत्ति-सर्वस्व अभिनिवेश से उबर कर अपनी ही ओर निवृत्त होती है। तभी उसका ग्राह्य-ग्राहक भाव उसके अपने लिये *उभर* पाता है - उसके अपने ही आलोक में प्रकाशित हो पाता है। और जब प्रकाशित होता है तो उसका अपना क्षेत्र भी आलोकित होता है, जहां वह अपने आप को स्वतन्त्र पाती है - विषय की अधीनता से मुक्त। मनुष्य में यह देखा, अनुभव किया जा सकता है। विषय की अधीनता से हम जितने मुक्त होते हैं उतना ही वह हमारे लिये स्फुट भी होता चलता है। स्फुट होता है तो उसका सत्य भी अस्फुटता के अंधकार से निकलता है। सत्य क्या? यह प्रश्न बन जाता है - अन्वेष्य हो जाता है। ग्राह्य - विषय - और ग्राहक - विषयी - ये दोनों, और इनके संबंध अब स्वतन्त्र चेतना के प्रवृत्ति-क्षेत्र बन जाते हैं। कर्त्ता-कर्म, भोक्ता-भोग्य, ज्ञाता-ज्ञेय जैसे भाव अब चेतना की प्रवृत्तियों को प्रत्यङ्मुख चेतना का विवेच्य, और विवेच्य ही नहीं, उसके अपने संधान का, साधना का, साधन बना देते हैं। हमारी प्रवृत्तियां अब हमारे लिये ही साध्य हो जाती हैं। प्रवृत्त ही नहीं होना चाहतीं, अपना *सत्य* साधने की ओर प्रवृत्त होना चाहती हैं।

चेतना के प्रत्यङ्मुख भाव को विशेष से सामान्य की ओर मुड़ना भी कह सकते हैं। चेतना जब विषय-ग्राह से मुक्त हो कर अपने प्रति सचेतन होती है तो केवल अपनी द्रष्टा

ही नहीं हो जाती, अपने विषय को सामान्य प्रत्यय के रूप में भी ग्रहण कर पाती है (भाषा में इसका साक्ष्य है; कला की कृतियों का - हमारे कर्म-मात्र की कृतियों का - साधारणीकृत होना, इसका साक्ष्य है)। यही विषय-ग्राह से मुक्ति का स्वरूप है, जिसे हम अपने आप में पाते हैं। विषय-ग्राह से मुक्त मेरा विषयी-स्वरूप भी अपने को विषयी-सामान्य के रूप में पाता है। मैं पाता ही हूं कि मैं अपने प्रति चेतन होता हूं तो मेरा स्व एक स्व-सामान्य हो जाता है - तभी मैं अपने को एक स्व-समाज में पाता हूं, जहां अन्य में भी अपने समान स्व की उपलब्धि कर पाता हूं।

हम सामान्य में स्थापित होते हैं तो सामान्यबोध को भी प्रत्यङ्मुख पाते हैं - सामान्यों का एक पीछे हटता और व्यापकतर होता सोपान बनता है। सामान्य अपने परे इंगित करता चलता है जो इंगित किसी परम सामान्य में जाकर भी नहीं थमता - बोध की अनिर्धार्य भूमा का संकेत देता है, जिससे सामान्य मानो उद्भूत होता है। यही चित् का संकेत भी है। चेतना अब विशेष को सामान्य के आलोक में देखती है, और इस आलोक में यह भी पाती है कि सामान्य-बोध में विशेष वस्तुओं के स्वरूप का *वास्तव* (तत्-वस्तु-गत) *सत्* उभरता दिखता है - उनका आदर्श या *यथा-अर्थ* स्वरूप, जैसी वे अपने *सत्* में हैं, चाहे अपने विशिष्ट अस्तित्व में वे अपने यथार्थ से (कम या अधिक) दूर हों। सत् की यह सामान्यात्मकता या प्रत्यय-भाव सत् को अर्थ में बसाती है। साथ ही उसमें वैविध्य की संभावना भी खोलती है - वस्तु का सत् अगर उसके सत्-प्रत्यय में है तो वह अनेक रूप ले सकता है, यह हम अपने सृजन में पाते ही हैं : सत्-काव्य में वैविध्य होता ही है; हमारा सृजन-मात्र सत्-संधानी होता है और वैविध्य को घर देता है। अर्थमय आदर्श स्वरूप-स्वभाव से ही अनेक होते हैं। पर साथ ही, क्योंकि ये स्वभाव से ही सिद्ध नहीं *साध्य* होते हैं इसलिये भ्रान्ति या मिथ्यात्व की वंचना भी पालते हैं। साध्य एक आदर्श होता है जिससे हम चूक भी सकते ही हैं, जिसे पूरा, निरवद्य नहीं पा सकते - वह सदा साध्य ही बना रहता है।

इस बात के मर्म का सबसे तीव्र अनुभव हम अपने आत्म-सृजन में कर सकते हैं। हम विषयों का ही नहीं विषयी के रूप में अपना भी सत्य पाना चाहते हैं। हमारा अपने सत्य का संधान जितना गहरा होता है सत्य की प्रश्नमयता, उसका वंचना-स्वभाव भी उतना ही गहराता है। पर इसी यात्रा में हम सत्य का भी गभीरतम इंगित पाते हैं। इसे चित् का सत् में आत्म-सृजन का इंगित कह सकते हैं, जिसमें यह भी उभरता है कि यह आत्मसृजन एक निरंतर *व्यापार* है जो अपने आप से उद्भिन्न होता हुआ अपने और अंतरंग के अतल में उतरता जाता है, पर किसी ध्रुव-स्थिर सत्य में इसका *अंत* नहीं दिखता। इस व्यापार के किसी निर्धार्य छोर या स्थाणु उत्स की बात बनती नहीं लगती।

शल्य जी का प्रतिपादन है कि चित् - आत्म - व्यापारमय है और अपने व्यापार में चित् अपने सत्य का विस्तार - बहु-रूप विपुलता - चाहता है। इसके लिये वह अपने को अपने ही आप से उपहित या व्यवहित कर लेता है। यही उसके आत्म-सृजन का बीज

है। पर यों आत्म की आत्म-व्यवहिति से आत्म में एक अनात्म भी आत्म-निहित हो जाता है - जो उसकी आत्म-विसृष्टि का माध्यम भी बनता है। आत्म को अपने लिये गवेष्य भी बनाता है।

पर, स्पष्ट ही, अनात्म आत्म में ही समोया हो, और स्वरूप से व्यापारमय हो तो अनात्म से आत्न का विवेक - सत् में असत् परिहार - सदा दुष्प्राप्य, भ्रान्त - या कहें आत्मवंचित - ही रह सकता है।

आत्मचेतना में आत्म के अपनी ओर मुड़ने को हम आत्म-निवृत्ति भी कह सकते हैं। चेतना में अर्थमयता - सत्य की ओर जागरूकता, सत्य की ललक जागती ही तब है जब चेतना में निवृत्ति घर करती है। आत्मचेतना अपने-आप-से-निवृत्त-हो-सकती चेतना है। पशु में जो चेतना अपने बाहर जाती एक अंध *प्रवणता* भर थी, अब निवृत्ति के सहारे ही वह चेतना अपना ही *विषय*, संधान, साधना, हो पाती है। निवृत्ति चेतना की अपनी प्रत्यङ्मुखता ही उजागर नहीं करती है, हमारे बोध में वह प्रवृत्ति को अंध विवशता से - पारतन्त्र्य से - निकाल कर अनात्म से आत्म की ओर बढ़ती भी, अनुभूत भी होती है। अपनी ओर उन्मुख होती हुई चेतना निवृत्ति की ओर गहराती हुई अपनी चिन्मयता का संकेत पाती है। साथ ही यह भी पाती है कि उसकी प्रवृत्ति अंध प्रवृत्ति नहीं, सत् की ओर बढ़ती प्रवृत्ति है। कौन सी प्रवृत्ति कब सत् की ओर बढ़ रही है, कौन सी कब नहीं, इसका निकष चित्-स्पर्शी आत्म होता है।

पर आत्म स्वरूपेण ऐसे अनात्म का भी घर हो जो प्रवृत्ति-मात्र के होने का आधार हो तो सत् का निकष सदा ओझल, सदा अनात्म-दिग्ध भी रहता है। यह द्वैधी-भाव शल्य जी के चित्-स्वरूप में ही समोया है - इसका समाधान क्या?

चेतना ज्ञान, कर्म, भाव... सब में *सत्य* की ओर प्रवृत्त होती है। पर इस प्रवृत्ति में जिस प्रमाण-व्यापार की आवश्यकता होती है वह भी एक निवृत्ति-भाव में बसता है - हर निकष को अपने भी अंतरंग निकष की सतत आवश्यकता होती है। हमारे लिये यह चेतना की अपने ही भीतर उतरती प्रत्यङ्मुख यात्रा के रूप में उभरता है जो सत्य की पर्येषणा के साथ प्रमाणीकरण के भी निरंतर संधान का रूप लेता है। पर प्रमाण हमें मिला या हम उससे वंचित ही रहे, इसका सम्यक् प्रमाण इस व्यापार में उभरता नहीं दिखता। सत्य उभरता है तो संशय लिये उभरता है।

जैसा इंगित कर आया हूं, शल्य जी के चिंतन में सबसे बड़ा साध्य मनुष्य स्वयं है। मनुष्य अपने प्रत्यङ्मुख आत्म-*प्रत्यय* में ही यह पाता है कि उसका *प्रदत्त* आत्म असत्य-दिग्ध है। हम अपने को आत्म रूप में पाते हैं तो अनात्म के अध्यास के साथ पाते हैं। तभी आत्म का सत्य अपने ही लिये साध्य हो जाता है। पर मानो अप्राप्य भी। आत्मचेतना के साथ हम अपने को व्यष्टि से व्यक्ति के रूप में पाते हैं। आत्म की अस्मिता

आत्मचेतना में ही उभरती है। या यों कहें कि चेतना की प्रवृत्तिमयता में जब अपनी-ओर-पलटती निवृत्ति का बीज जागता है तभी आत्म *उभरता* है - या स्वरूप लेता है। पशु में आत्म की बात ही सार्थक नहीं। हम में आत्म जागता है तो हम यह भी पाते हैं कि हमारा आत्म कोई सिद्ध वस्तु नहीं, हमारी ही चेतना के अपने संधान का भी अंग हैं - अपने ही द्वारा साध्य है। अपने ही सत्य की इस साधना को भी निवृत्ति की साधना भी कह सकते हैं - आत्म अपने उपलब्ध रूप से जितना निवृत्त होता है, उतना ही अपने को पाता है। पर आत्म के सत्य का (स्वरूप का)साध्य होना ही उसमें अनात्म की उपस्थिति का भी संकेत है। अपनी कर्म-साधना या धर्म-नीति की साधना में हम इसे एक विशेष गहराई से पाते हैं, जहां हमारी देह-मन-प्राण-भाव-ज्ञान-मयी संपूर्ण अस्मिता साध्य हो जाती है। पर वहीं सत्य का प्रश्न भी टेढ़ा, विशेष वंचनामय हो उठता है।

हमारी स्वभाव से ही प्रत्यङ्मुख आत्मचेतना अपने को अपने ही आप में स्वप्रतिष्ठ नहीं पाती है। उसकी प्रत्यङ्मुख यात्रा का हर चरण उसे सत्य का अपने से परे संकेत देता है। वह अपने आप को एक पर्यन्त की ओर उन्मुख पाती है, जिसका कहीं अवसान नहीं। यह पर्यन्त ही चित् है। कह सकते हैं कि यह एक ऐसी नाभि के तुल्य है जो अपने ही भीतर विलीन होती जाती है, पर जितना अपने भीतर उतरती है उतना ही अर्थ-वैपुल्य विकीरित करती चलती है - सृष्टि के अरों में अपना उन्मेष-चक्र विकसित करती चलती है। यह विकीरण सामान्य या प्रत्यय के माध्यम से होता है - जो चित् के अनिर्धार्य पर्यन्त से चलते हुए विशेष में अपनी बाहरी परिधि बनाते हैं - जो परिधि भी चित् की तरह ही एक छोर, एक पर्यंत ही होती है - चक्र की नेमि की तरह बंधी-बनी कुछ नहीं। पर इस चित्र में यह भी दिखता है कि सत्य के संकेत का ज्ञान और ग्रहण, दोनों ही चरिष्णु या कहें कि चल-संकट में रहते हैं।

शल्य जी की दृष्टि में चित् अद्वय है। जो अद्वय हो *उसी के आत्म*-सृजन की बात की जा सकती है । चित् सत् को भी समोये है, जिसका वह सृजन करता है। पर चित् को किसी सृजन की आवश्यकता ही क्या? उसकी स्व-सृष्टि क्यों? सृजन हो तो सृजन के लिये द्वैत की मांग होती है - सृजन किसी कुछ *में*, किसी कुछ *से* होता है। यह कहां से आयेगा?

पर ऐसे प्रश्नों के लिये कहना न होगा कि बात इस स्तर पर आ जाये जहां विचार के परे से झांकते किसी अनिर्धार्य परम तत्त्व या सत्य को व्यक्त करना हो तो विचार को व्यंजना का ही सहारा होता है। जैसा उपनिषदों में है। पर उपनिषदों में व्यंजना के भिन्न संकेत मिलते हैं। शल्य जी अपनी दृष्टि में उभरते तत्त्व को समझाने के लिये उपनिषद् का एक विशेष कथन लेते हैं : *स अकामयत, एकोहं बहु स्याम्* । कहना न होगा, इस लाक्षणिक पदावली में *सः* चित् के प्रति संकेत है। *अकामयत* भी एक ध्वनि ही वहन करता है - क्योंकि चित् में *कामना* की बात का अभिधा में कोई अर्थ नहीं बन सकता। शल्य जी

के लिये चित् हमारी आत्मचेतना के व्यापार में संकेत के रूप में आभासित होता है - उसकी बात भी संकेत पर ही निष्ठित हो सकती है। हम जब अपने आत्म को अपने और अपने विषयों में सत्य के उद्घाटन-सृजन के व्यापार के माध्यम के रूप में पाते हैं तो इस व्यापार के तत्त्व को, चित् को - या यों कहें कि चित्-व्यापार को - इसी आलोक में व्यंजित कर सकते हैं। शल्य जी इसीलिये आत्मचेना और उसके सत्-संधानी व्यापार को चित् का *प्रतीक* कहते हैं।

यह तात्त्विक दृष्टि आत्मचेतना के संकेतों में बसी है, उसीके व्यापार को अपने तत्त्व-बोध का आधार बनाती है। हम पाते हैं कि हमारी काम-प्रवृत्ति जब अपने से निवृत्त हो कर अपने चिदर्थ की ओर मुड़ती है तो प्रेम का रूप लेती है; प्रेम भक्ति में रूपान्तरित हो जाता है - तुलसीदास में ये दोनों गभीरतर गतियां देखी जा सकती हैं। यह अनात्म को ही आत्म-सृषिट का माध्यम बनाने जैसी गति है। यही नहीं, व्यास और कालिदास जैसे कवियों में हम देखते हैं कि मनुष्य का लोभ, मोह, मद, ईर्ष्या, असूया, राग, द्वेष ... जब कवि की इनसे-निवृत्त-पर-इनमें-प्रवृत्त संवेदना में ये जागते हैं तो ये ही विपुल अर्थ-गर्भ सृजन के आधार बनते हैं । कर्म में संवेदना की एक सदृश-सधर्म गति देखी जा सकती है - जो गांधी जी में ऐसे ही मनुष्य-भाव के भीतर भी अहिंसा, सद्भाव, सत्-कर्म की प्रेरणा देखती-जगाती है। जड़-जगत्,जो स्वरूप से ही अनात्म जान पड़ता है, उसके प्रति विशुद्ध उपादेयता की दृष्टि से हम निवृत्त होते हैं तो उसमें सौंदर्य का विराट् देखते हैं, उसके अवगाहन-अन्वेषण में विज्ञान की यात्रा में उतरते हैं। इसे निवृत्त-होती प्रवृत्ति का सृजन-वैभव भी कह सकते हैं - जो हमारी आत्मचेतना में जागृत होता हुआ उसकी गतियों को उन्मिषित-उन्मीलित करता है।

पर दूसरी ओर अनात्म का होना ही सृष्टि को विभीषिका बना देता है। जीव-जगत् की अंध-प्रवृत्तियां, हिंसा, क्रौर्य, होने की निरर्थक प्रवृत्ति-मात्रता - यही नहीं, इससे भी बढ़ कर मनुष्य का अपना वासना-प्रपंच, स्वार्थमयता, दंभ, पर-पीड़न, संबंधों के संकीर्ण, झूठे मोह, आडम्बर, अत्याचार, भय, आतंक, अकारण द्वेष, वध, दीनता, दासता, प्राणों की, अर्थ-मात्र की, भंगुरता... ये प्रवृत्ति को ही निरर्थक ही नहीं बीभत्स बना देते हैं। शल्य जी प्रत्यय के माध्यम से चित् के आत्म-सृजन का प्रतिपादन करते हैं तो इन्हें भी *सामान्य* की श्रेणी में रखा जा सकता है, पर ये प्रत्यय तो नहीं हो सकते हैं - प्रत्यय में अर्थमयता, आदर्शमयता - सत्य - निहित है जो उसे चित् से जोड़े, पर इनमें सामान्य भी अनात्मनिष्ठ सामान्य ही ठहरता है। गांधी जी की अहिंसा को, युधिष्ठिर और कृष्ण के आनृशंस्य को, बोधिसत्त्व की करुणा-मैत्री को प्रत्यय कह सकते हैं - इनमें (वंचना का स्थान हो) पर सत्य का प्रकाश है, लेकिन हिंसा... आदि को प्रत्यय कहना विडम्बना लगता है, चाहे ये सामान्य हों, और बुद्धि के विकल्प-स्वभाव में स्थित हों। ये अनात्म-रूप में ही हम पर

आक्रान्त होते है। (शल्य जी की टिप्पणी की यहां अपेक्षा रहेगी)। अचंभा नहीं कि अर्थ-संधानी आत्म विशुद्ध निवृत्ति में ही सार्थकता साधना चाहता है। प्रवृत्ति-मात्र को निरर्थक समझता है। जैसे बुद्ध। ऐसी निवृत्ति-साधना में भी चेतना अर्थ के विराट् की उपलब्धि करती है। पर यहां भी अनात्म से *मुक्ति* मिली या नहीं, यह ठीक कैसे जाना जाये? प्रश्न ही रह जाता है। आत्मवंचना की संभावना बनी रहती है।

शल्य जी का विचार प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों के विरोध और दोनों के *सत्य* को - सार्थकता को - देखता है। पर यह विरोध जब संवेदना में जागे तो अंतर को गभीर में कचोट सकता है। यहां बात संशय की नहीं, और गहरी है - आत्मचेतना की जिजीविषा में ही समाये संकट की व्यथा है : क्योंकि जो सत्य-दृष्टि सत्य को निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों के अविनाभाव में देखती हो, और साथ ही निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों में ही पुरुषार्थ की संभावना देखती हो, उसकी संवेदना में सत्य क्या? यह प्रश्न सत्य के विरह के रूप में जागे, यह स्वाभाविक है। न जागे तो अचंभा होना चाहिये।

मनुष्य में अर्थ-साधना का यह परस्पर-विरोधी द्वैधी-भाव भी जागरूक आत्मचेतना में स्वरूप-निष्ठ जान पड़ता है। हमारी संस्कृति में तो यह जैसे घुट्टी में पड़ा है।

वैसे भी, *सः अकामयत* की उक्ति में भी, चित् के लिये बहु होने की कामना, जिस में प्रवृत्ति का सत् बसा है, वह कामना नहीं भी हो सकती थी - आगन्तुक जान पड़ती है। हमारी चेतना में निवृत्ति का होना ही इसका इंगित देता है : निवृत्ति-बोध गहराये तो हम में यह चेतना जागती रहती है कि यह जो कुछ है, नहीं भी हो सकता था - नहीं ही होता तो अच्छा था, क्योंकि इसमें, इसके सारे ऐश्वर्य में, सत्य की वह भूमा नहीं जिसकी चेतना मे प्यास जागती है। यह बात प्रवृत्ति के सारे अर्थ में ही अनर्थ का संकट बींध देती है।

मैंने शल्य जी के चिंतन के समग्र को - या यह कहिये कि उनकी विचार-दृष्टि के भीतर जागती दिशा को - यहां अति-संक्षेप में समेटने की अपनी सी चेष्टा इसलिये की है कि मैं समझता हूं उनके लेख में जिस वेदना की विह्वलता प्रकट हुई है, उसकी जड़ उनके तत्त्व-चिंतन में है। प्रश्न हो तो उनके विचार-समग्र पर होना चाहिये। इसका इंगित मेरी बातों में आ गया है; किसी ब्यौरेवार प्रश्नावलि का यहां प्रसंग नहीं।

पर इतना कहने के बाद भी एक बात तो कही जा सकती है - जो शायद मेरे कहने में ध्वनित भी हो : यह कि शल्य जी के इस लेख में सत्य के प्रति द्विधा का जो अनुरणन है वह किसी भी व्यापक, जीवन-में-उतरते विचार-बोध में जागना चाहिये। जिस तत्त्व-दृष्टि में इसकी संभावना नहीं वह कमतर ही ठहरती दिखेगी।

मुकुन्द लाठ

टिप्पणी-2

बात चाहे कथ्य एवं वस्तुस्थिति की हो, अथवा आत्मगत पर-रूप एवं आत्मस्वरूप की हो दोनों के बीच कहने और करने को लेकर जो सम्बन्ध मिलता है वह समान रूप से अस्पष्ट एवं समस्यामूलक होता है। इस समस्यामूलकता के कारण बाद के सम्बन्ध को लाक्षणिक मानने की आवश्यकता नहीं लगती। अधिक गहरा प्रश्न यह प्रतीत होता है कि बिना ज्ञेय को जाने, अथवा बिना आत्मस्वरूप को जाने, उससे कथ्य अथवा आत्मोपलब्धि का मिलान कैसे किया जा सकता है ?

शल्यजी ने एक और गंभीर समस्या की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। यदि आत्मस्वरूप सत्य है (वास्तविक है ?) तब क्या आत्मगत पर-रूप असत्य (अवास्तविक है?) है? पर, आत्मगत पर-रूप आत्म का ही प्रक्षेप है। इसके अतिरिक्त आत्म समस्त अर्थोन्मेष का भी मूल है। इस प्रकार आत्म से मूलतः जुड़े होने से दोनों ही महत्त्वपूर्ण हैं। परन्तु सत्य अथवा मूल्य की दृष्टि से उन्हें कैसे देखें? जब विषय ऐन्द्रिक होते हैं, अथवा भ्रमोत्पादक होते हैं, अथवा साध्य के परिप्रेक्ष्य से हेय होते हैं, अथवा वे सब स्थितियां जो सत्य (आत्म) से दूरस्थ होती हैं, और इसलिये अवृत के क्षेत्र में आती हैं, उन्हें कहां रखा जाय? ये सभी किसी न किसी रूप में अर्थ हैं और अपने मूल के लिए आत्म की ओर ही संकेत करते हैं। यही नहीं, ये उस मूल को किसी रूप में आच्छादित भी करते हैं। परन्तु राग, सुख, अभीप्सा, रोष, चिन्ता आदि के कुछ रूपों को शल्य जी आवरण नहीं कहना चाहते। (अशोक, बुद्ध, मीरा, राम....) सर्वविदित है कि इस आच्छादन को भारतीय चिन्तन में अनेक प्रकार से समझाया गया है। शल्य जी मानते हैं कि इसके क्यों और कैसे में जाने से कोई लाभ नहीं, क्योंकि इनका कोई उत्तर नहीं है। इतना स्पष्ट है कि जो छल 'आत्मा' अपने लिए आयोजित करता है, ... इससे उबरना चाहता है– (145) तब जो नैरन्तरिक प्रत्यावर्तन की यात्रा है वही महत्त्व की है, यद्यपि श्रद्धा-विश्वास के साथ समर्पण का भाव अधिक सरल है।

इस सन्दर्भ में यह एक रोचक और महत्त्वपूर्ण बात है कि अर्थ-लोक के एक खण्ड को, जो कलाओं तथा बौद्धिक सर्जन से जुड़ा है, शल्य जी अर्थ-जगत् में सर्वोपरि रखना चाहते हैं। कहना नहीं होगा कि अर्थ-लोक का यह भाग समरूप नहीं होता, परन्तु इस प्रश्न के विस्तार में जाने के लिए यहां अवकाश नहीं है।

असमरूप तो अर्थलोक के उस खण्ड में भी है जो कोटि की दृष्टि से निम्न स्थान रखता है। परन्तु समस्या, जिसका समाधान केवल कोटि अथवा श्रेणी-विभाजन व्यवस्था से नहीं मिलता, यह है कि दोनों ही खण्ड अर्थ कोटि में आने से अपना मूल आत्म में रखते हैं, परन्तु दोनों ही आत्म से भिन्न अथवा अनात्म होने के कारण असत्य हो जाते हैं। किन्तु यह कैसे स्वीकार किया जाय?

राजेन्द्रस्वरूप भटनागर

पुस्तक-समीक्षा

संवित्प्रकाशवाद – ले. डॉ. आनंद मिश्र, प्रकाशक–भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, 2002, पृ. सं. 228, मूल्य 300.00

दर्शन के क्षेत्र में ज्ञानमीमांसा और तत्त्वमीमांसा एक-दूसरे की पूरक बनकर सामने आती हैं। दोनों एक-दूसरे को प्रभावित किये बिना नहीं रहती हैं। इस कारण यदि समस्या ज्ञान के स्वरूप के विषय में हो तो वह न केवल ज्ञानमीमांसा को प्रभावित करेगी वरन् उसका प्रभाव समूची तत्त्वमीमांसा पर भी किसी न किसी रूप में पड़ेगा। ज्ञान समस्त तत्त्वों का प्रकाशक बनता है क्योंकि ज्ञान प्रकाश है। अब यदि सवाल यह हो कि ज्ञान का ज्ञान कैसे होता है? तो निश्चय ही यह एक जटिल सवाल होगा तथा इसका उत्तर शायद इससे भी ज़्यादा जटिल हो। इस प्रश्न पर भारतीय दर्शन में गम्भीरता से विचार किया गया है और उसका हल ढूँढने की कोशिश की गयी है। डॉ. आनन्द मिश्र द्वारा प्रणीत **संवित्प्रकाशवाद** नामक पुस्तक इसी विषय को दृष्टिगत रखते हुए लिखी गयी है। लेखक इस पुस्तक की शुरुआत इसी प्रश्न से करता है और शायद समाप्ति भी इस प्रश्न के साथ करता है कि क्या ज्ञान का ज्ञान होता है? सिद्धान्तित यही करना है कि ज्ञान का ज्ञान नहीं होता है। किन्तु शुरुआती प्रश्न तब तक नहीं बन सकता है जब तक हम यह न मान लें कि ज्ञान का ज्ञान होता है। यदि हमने इसे मान लिया कि ज्ञान का ज्ञान हो सकता है या होता है, तभी यह प्रश्न उठ सकता है कि ज्ञान का ज्ञान कैसे होता है? इसलिए शायद इस प्रश्न को समुचित रीति से समाहित करने का तरीका यही है कि हम मान लें कि ज्ञान अज्ञेय है, ज्ञान का ज्ञान नहीं होता है। किन्तु इस निषेध के पूर्व उस प्रश्न को वैध मान कर विचार करना भी ज़रूरी है।

ज्ञान का ज्ञान होने की समस्या ज्ञान की प्रकाशमानता की समस्या है। अगर यह मान लिया जाये कि ज्ञान का ज्ञान होता है तो हमारे सामने सिर्फ दो विकल्प रहते हैं कि या तो ज्ञान का ज्ञान उसी ज्ञान से होता है अथवा दूसरे ज्ञान से होता है। उसी ज्ञान से उस ज्ञान का ज्ञान होना ज्ञान की स्वयंप्रकाशता है और दूसरे से उस ज्ञान का ज्ञान होना पर-प्रकाशता है। किन्तु ये शब्द पारिभाषिक हैं और अपने अर्थ के लिए सन्दर्भ की अपेक्षा करते हैं। जैसे अद्वैत वेदान्ती ज्ञान का ज्ञान नहीं मानते हुए उस ज्ञान को स्वयं प्रकाश मानते हैं, बौद्ध उसी ज्ञान का विषय उसी ज्ञान को मानते हुए ज्ञान को पर-प्रकाश मानते हैं। इस प्रकार स्वयं-प्रकाश आदि शब्द तत्तद्दर्शनों में अलग-अलग अर्थों में परिभाषित हैं। शब्द-साम्य से हम भ्रान्त न हों तो हमारे सामने इस प्रश्न के उत्तर में दो विकल्प नहीं होते, अनेक विकल्प होते हैं। यह पुस्तक इन्हीं विकल्पों की समीक्षा है। लेखक ने पुस्तक में न केवल ज्ञान की

प्रकाशमानता की समस्या से सम्बन्धित अनेक पक्षों को युक्तिसङ्गत रीति से और ईमानदारी से उठाने की कोशिश की है, बल्कि उनकी आलोचना अन्य दर्शनों द्वारा किस प्रकार की गयी है, इसे भी स्पष्टतया प्रतिपादित करने का प्रयास किया है। अनेक अप्रसिद्ध मतों को भी इस विषय में उद्धृत करते हुए उनको भी विवेचित किया है, यथा प्राचीन गुरुमत को **तत्त्वचिन्तामणि** के उद्धरण के आधार पर प्रतिपादित किया है। इसलिए लेखक का प्रयास सराहनीय है। किन्तु इस तरह के जटिल विषय के विवेचन के साथ मुश्किल यह होती है कि तनिक सी चूक हमें मूल सिद्धान्तों से बहुत दूर ले जाती है। इस कारण इस पुस्तक में कुछेक स्थलों पर की गयी कुछ सामान्य सी भूलें भी उस दर्शन के सिद्धान्तों का ग़लत आभास देती हैं। दूसरी बात यह है कि लेखक के अद्वैत वेदान्त के प्रति झुकाव ने कुछ सिद्धान्तों के साथ उसे न्याय भी नहीं करने दिया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ एकादश अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय के पूर्व विषयप्रवेश और अन्तिम अध्याय के बाद परिशिष्ट को शामिल किया गया है। विषयप्रवेश में लेखक ने ज्ञान की प्रकाशमानता की समस्या पर अलग-अलग दर्शन-सम्प्रदायों की स्थापनाओं पर विहंगम दृष्टि डाली है। प्रथम अध्याय में न्यायवैशेषिक दर्शन में ज्ञान के स्वरूप तथा आत्मा और मन के स्वरूप पर विचार किया गया है और द्वितीय अध्याय में ज्ञान की परप्रकाशता से सम्बन्धित न्यायवैशेषिक मत का विवेचन किया गया है। तीसरा अध्याय स्वप्रकाशता सम्बन्धी बौद्धमत के उपपादन को समर्पित है। चौथा और पाँचवाँ अध्याय भाट्टमत से ज्ञान के ज्ञान की समस्या पर केन्द्रित है। छठा और सातवाँ अध्याय प्राभाकर मत से सम्बन्धित ज्ञान की स्वयंप्रकाशता के सिद्धान्त पर आधारित है। आठवें से ग्यारहवें अध्याय तक में अद्वैत वेदान्त के अनुसार अन्य मतों की आलोचना और ज्ञान की स्वप्रकाशता की समस्या पर गहन चिन्तन करते हुए संवित् स्वप्रकाशवाद को सिद्धान्त के रूप में व्यवस्थापित किया गया है। परिशिष्ट में चित्सुखाचार्य कृत स्वप्रकाशत्वनिरूपण प्रस्तुत है। ग्रन्थ के अध्ययन से ऐसा लगता है कि ज्ञान की प्रकाशमानता की समस्या पर तत्तद्दर्शनों द्वारा सुझाये गये समाधानों को ग्रन्थकार एक सोपानक्रम में देखते हैं, यद्यपि लेखक ने इसका शब्दशः सङ्केत कहीं पर नहीं दिया है। इस सोपनक्रम का अन्तिम सोपान अद्वैत वैदान्तिक ज्ञान की स्वप्रकाशता का सिद्धान्त है। इस प्रकार हमें बरबस माधवाचार्य कृत **सर्वदर्शनसंग्रह** का स्मरण हो आता है। लेकिन इस सोपानक्रम का निर्धारण करते हुए लेखक कम से कम दो दार्शनिक सम्प्रदायों को छोड़ देता है जिन्होंने इस समस्या पर मौलिक ढंग से विचार किया है। वे हैं विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय और माध्वों का द्वैत सम्प्रदाय। यदि लेखक का उद्देश्य सोपानक्रम में इस समस्या को देखना नहीं था तो भी इन दो सम्प्रदायों के सिद्धान्तों को नज़र अंदाज करना एक बड़ी भूल कही जायेगी। ध्यातव्य यह है कि इन दोनों सम्प्रदायों में ज्ञान की स्वप्रकाशता को किसी न किसी रूप में स्वीकार करते हुए अद्वैत वेदान्त को ही पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत किया गया है और इन दोनों सम्प्रदायों के अद्वैत सम्प्रदाय से वैचारिक संघर्ष का एक लम्बा इतिहास रहा है। अद्वैत वेदान्त के स्वयंप्रकाशता सम्बन्धी सिद्धान्त की

पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुति न्यायवैशेषिक, बौद्ध, मीमांसा आदि सम्प्रदायों में सुलभ नहीं है। इस कारण यदि इन दो मतों को ग्रन्थ में जगह दी गयी होती तो इस समस्या का एक सम्पूर्ण चित्र हमारे सामने आ पाता। इसके बिना इस चित्र में एक आयाम ग़ायब सा प्रतीत होता है, एक खास कोण से ही इस समस्या पर नज़र पड़ती है।

विषयप्रवेश शीर्षक के अन्तर्गत भारतीय दर्शनों में ज्ञान की स्वप्रकाशता की समस्या को उठाते हुए लेखक एक आधारभूमि इस ग्रन्थ के लिए खड़ी करता है। इस शीर्षक के अन्तर्गत ग्रन्थ में प्रतिपादित सभी पक्षों की एक रूपरेखा उपलब्ध होती है। किन्तु इसके अन्तर्गत जो विषय प्रतिपादित हैं उनका आगे के ग्रन्थ से अनेक स्थलों पर विरोध प्रतीत होता है। जैसे पृष्ठ 14 पर लेखक स्वयं कहता है कि ''इस दृष्टि से न्यायदर्शन ही एकमात्र दर्शन है जो यह सम्भव मानता है कि हमें वस्तु का ज्ञान हो पर हम अपने इस ज्ञान के ज्ञान से अपरिचित हों', किन्तु तीसरे अध्याय की टिप्पणी में बी.के. मतिलाल के इसी आशय के कथन की आलोचना करता है। वहाँ वह **मानमेयोदय** ग्रन्थ की पंक्ति 'उत्पन्नस्य ज्ञानस्यावश्यवेदनीयत्वाभावादिति ब्रूमः' को उद्धृत करता है (द्रष्टव्य पृ. 53) इसी प्रकार विषयप्रवेश के अन्तर्गत ही लेखक कहता है कि ''लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि अद्वैत वेदान्त में नित्य कूटस्थ चैतन्य रूप शुद्ध आत्मा ही स्वयंप्रकाश है, अपितु घटपटादि का वृत्तिज्ञान भी स्वयंप्रकाश है क्योंकि इसके ज्ञान के लिए किसी अन्य वृत्ति या अनुभव की अपेक्षा नहीं होती। यह सीधे साक्षी चेतना द्वारा भासित होने से स्वयंप्रकाश है।'' (पृ. 20) ग्यारहवें अध्याय में लेखक कहता है कि ''न तो सुख, दुःख, इच्छा आदि ही और न ही वृत्तिज्ञान स्वयंप्रकाश हैं।'' (पृ. 169) पुनः वहीं पर ''अस्तु, अद्वैतियों के अनुसार घट-पटादि का अनित्य जायमान ज्ञान स्वयंप्रकाश नहीं है।'' (पृ. 169) इस तरह के अभिकथनों में सतही तौर पर विरोध दिखायी पड़ता है। लेखक के दोनों ही कथन सही हैं, लेकिन जो बात स्पष्टीकरण की अपेक्षा करती है वह यह कि वृत्तिज्ञान की स्वप्रकाशता से आशय कुछ और है, कूटस्थ चैतन्य की स्वयंप्रकाशता से आशय कुछ और है। शब्दसाम्य होने पर भी दोनों में अर्थसाम्य नहीं है। 'विषयप्रवेश' शीर्षक के अन्तर्गत ही प्राभाकर मत के विषय में लेखक का एक अभिकथन असत्य लगता है कि ''जिस सामग्री से ज्ञान उत्पन्न होता है उसी से उसका ग्रहण होता है, फलतः ज्ञानोत्पादक सामग्री और ज्ञान-ग्राहक सामग्री में प्रभाकर के अनुसार कोई भेद नहीं है।'' (पृ. 16) इस अभिकथन के समर्थन में लेखक ने कोई सन्दर्भ उद्धृत नहीं किया है, किन्तु लेखक के आगे के अभिकथनों और प्राभाकर मत जिस रूप में ग्रन्थों में उद्धृत किया जाता है उससे इस कथन की असत्यता ही ज्ञात होती है। प्राभाकर मत में ज्ञान का ग्रहण उसी ज्ञान से होता है, किन्तु वही ज्ञान उसी ज्ञान की उत्पादक सामग्री तो शायद किसी तरह नहीं बन सकता है। ज्ञान खुद अपना ग्राहक तो सम्भवतः बन भी जाये किन्तु खुद अपना उत्पादक क्यों कर बन सकेगा? निश्चय ही यह अपसिद्धान्त लगता है। प्राभाकर मत में ज्ञान-ग्राहक सामग्री और प्रामाण्य-ग्राहक सामग्री में कोई भेद नहीं है। लगता है उसे ही लेखक ने इसके साथ जोड़ दिया है।

न्यायवैशेषिक सम्प्रदाय के ज्ञान के परप्रकाशतासिद्धान्त के विवेचन में लेखक की अद्वैत वैदान्तिक दृष्टि कुछ इस प्रकार हावी रही है कि अनेक स्थलों पर लेखक ने न्यायवैशेषिक पक्ष को ग़लत रूप में उद्धृत कर दिया है। जिन मतों को प्रस्तुत पुस्तक में जगह मिली है उनमें न्यायवैशेषिक और भाट्ट सम्प्रदाय को छोड़कर सभी सम्प्रदाय किसी न किसी रूप में ज्ञान की स्वयंप्रकाशता को स्वीकार करते हैं। न्यायमत में ज्ञान अपने बाद होने वाले अनुव्यवसाय से प्रकाशित होता है और भाट्टमत में ज्ञान प्रकाशित ही नहीं होता बल्कि अनुमेय होता है। ज्ञान के प्रकाशित न होने की बात अनुभव से विरुद्ध हो जाती है क्योंकि 'घटमहं जानामि' से ज्ञान का अनुभव होता दिखता है, जिसकी व्याख्या ज्ञातता के आधार पर भाट्ट मीमांसक करना चाहते हैं। इस कारण अगर हम देखें तो पाते हैं कि नैयायिकों का सिद्धान्त ज्ञान की स्वप्रकाशता के खिलाफ ज़्यादा मज़बूती से खड़ा होता है। इस कारण इस मत पर ज़्यादा ध्यान देने की आवश्यकता थी। 'न्यायवैशेषिक दर्शन में ज्ञान का स्वरूप और आत्मा एवं मन' शीर्षक अध्याय में सुख, दुःख, इच्छा आदि के चेतना के गुण होने के सम्बन्ध में लेखक कहता है कि ''यदि ज्ञान और चेतना को समान माना जाये तो यह समस्या खड़ी होती है कि सुख, दुःख, इच्छा आदि को किस तरह अचेतन गुण सिद्ध किया जाय? यह स्वाभाविक रूप से सत्य प्रतीत होता है कि इच्छा आदि भी चेतन व्यापार ही हैं, अर्थात् जिस तरह ज्ञान एक चेतन व्यापार है उसी तरह इच्छा, यतन, सुख, दुःख आदि भी हैं। इस विषय में कोई स्पष्ट विचार न्यायवैशेषिक परम्परा में नहीं किया गया है।'' (पृ. 27) यहाँ पर लेखक निश्चय ही निरनुयोज्यानुयोग कर बैठा है। वस्तुतः यहाँ पर नैयायिकों का पक्ष एकदम स्पष्ट और सुविचारित है। न्यायमत में ज्ञान और चेतना एक ही चीज़ हैं किन्तु ज्ञान जड़ है और ज्ञानवान् आत्मा ही चेतन है। चेतन और चेतना दोनों दो चीज़ें हैं। अद्वैतियों के अनुसार लेखक ने यह प्रश्न चेतन और चेतना दोनों को एक मान कर उठाया है। चेतन का धर्म है चेतना, इस प्रकार चेतन आत्मा के ही इच्छा इत्यादि भी धर्म हैं। नैयायिकों के इस मत पर अवश्य प्रश्न उठाया जा सकता है, किन्तु इस पक्ष के विचारित न होने की बात निराधार है। इसी प्रकार 'अनुव्यवसायवाद : ज्ञान की परप्रकाशता सम्बन्धी न्यायवैशेषिक मत' शीर्षक अध्याय में लेखक कहता है कि ''इस तरह न्यायमत में भी ज्ञाता को ज्ञान का ज्ञान होता है, वहाँ भी ज्ञान होने का कोई महत्त्व नहीं है यदि उस ज्ञान का ज्ञान भी ज्ञाता को न हो।'' (पृ. 42) पुनः ''वस्तुतः नैयायिक मानते हैं कि प्रवृत्ति के लिए ज्ञाता को अपने ज्ञान का संज्ञान होना अपेक्षित है।'' (पृ. 43) लेखक के इन दोनों अभिकथनों के समर्थन में हमें न्याय के किसी ग्रन्थ में कोई उद्धरण नहीं मिलता है। वस्तुतः ज्ञान का प्रयोजन है प्रवृत्ति, और प्रवृत्ति के लिए नैयायिक इष्टतावच्छेदक प्रकारक ज्ञान को कारण मानते हैं। जैसे रजत इष्ट है तो रजतत्व प्रकारक ज्ञान प्रवृत्ति के लिए आवश्यक होता है। ऐसा ज्ञान है 'इदं रजतम्', 'अहं रजतं जानामि' ऐसा ज्ञान रजतत्व प्रकारक न होकर ज्ञानत्व प्रकारक है इसलिए प्रवृत्ति के लिए ज़रूरी नहीं है। स्वयं लेखक ने टिप्पणी में पृ. 53 पर गङ्गेश की **तत्त्वचिन्तामणि** से जिन पंक्तियों को उद्धृत किया है उससे भी इसी की पुष्टि होती है। वहाँ

पर 'न चैवमनुभवविरोध:, अर्थ निश्चयेन प्रवृत्तिदर्शनात्' ऐसा कहा है। अर्थ-निश्चय मात्र ही प्रवृत्ति के लिए अपेक्षित है और ज्ञान अर्थ-निश्चायन के लिए अपने ज्ञान पर निर्भर नहीं है। यदि ज्ञान का ज्ञान भी प्रवृत्ति के लिए ज़रूरी हो तब तो नैयायिकों पर प्राभाकारों की ही विजय हो जायेगी।

लेखक ने इसी अध्याय में नैयायिकों के मत में उठने वाले एक व्याघात की महत्त्वपूर्ण चर्चा की है। उसका कहना है कि नैयायिकों के मत में भी ज्ञान की परप्रकाशता के दो अपवादी उदाहरण प्राप्त होते हैं। प्रथम यह कि ईश्वरीय ज्ञान स्वप्रकाश है और दूसरा यह कि सभी ज्ञान ज्ञेय हैं। ऐसा ज्ञान अपने आप को भी विषय बनाता है इसलिए स्वयंप्रकाश है। वस्तुतः न्यायमत का ऐसा कोई आग्रह नहीं है कि ज्ञान परप्रकाश हो ही। ज्ञान की परप्रकाशता की स्वीकृति नैयायिक मुख्यतया इस कारण करते हैं क्योंकि स्वप्रकाशत्व का अर्थ स्वविषयत्व ही होना चाहिए और ज्ञान अपने विषय से जन्य होता है। (यह बात लौकिक प्रात्यक्षिक ज्ञान के लिए ही स्वीकार्य है)। साथ ही प्रत्यक्ष इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से जन्य होता है। जब तक वह ज्ञान उत्पन्न नहीं होता तब तक उस ज्ञान के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष कथमपि सम्भव नहीं है। इसलिए कोई भी जन्य ज्ञान स्वविषयक नहीं हो सकता और इसीलिए स्वयंप्रकाश नहीं होता। चूँकि ईश्वरीय ज्ञान नित्य है इसलिए उसके स्वयंप्रकाश होने में कोई आपत्ति नहीं है। इसी प्रकार 'सभी ज्ञान ज्ञेय हैं' यह ज्ञान ज्ञानत्वसामान्य लक्षणा प्रत्यासत्ति से निष्पन्न होता है। गङ्गेश ने यहाँ पर ज्ञानत्वप्रत्यासत्ति की बात कही है। लेखक ने इसे ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति समझ लिया है (पृ. 52) यह एक बड़ी भूल है। ज्ञानत्व एक जाति है, सामान्य है, वही सभी ज्ञानों में ज्ञेयत्व का ज्ञान कराने वाला सन्निकर्ष बन जाता है। चूँकि सामान्यलक्षणा से होने वाला ज्ञान लौकिक प्रत्यक्ष नहीं है इसलिए सामान्यलक्षणा एक अलौकिक सन्निकर्ष है। इसलिए उस ज्ञान के स्वविषयक होने पर भी उसे स्वप्रकाश मानने का आक्षेप नहीं किया जा सकता है।

न्यायमत की आलोचना में जिस बात पर सबसे ज़्यादा ज़ोर दिया जाता है वह यह कि यदि ज्ञान ज्ञाता को स्वयं उपलब्ध नहीं है तो अर्थ का प्रकाशन कैसे सम्भव है? 'अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टि प्रसिध्यति।' अगर नैयायिक नज़र से देखा जाये तो इस आपत्ति का कोई मानी ही नहीं है। **आत्मतत्त्वविवेक** के बाह्यार्थभङ्गप्रकरण में उदयनाचार्य ने इस आपत्ति का सुमनोहर समाधान दिया है। वे पूछते हैं कि जब दृष्टि का अर्थ ही उपलम्भ है तो आप 'सिद्धि' पद से क्या कहना चाहते हैं? 'सिद्धि' का अर्थ निष्पत्ति है या प्रतीति? यदि सिद्धि का अर्थ निष्पत्ति है तो आपके कथन का आशय होगा कि जब तक उपलब्धि का, ज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं होता तब तक अर्थज्ञान की निष्पत्ति नहीं हो सकती। फलितार्थ यह होगा कि अर्थज्ञान की उपलब्धि पहले होनी चाहिए और बाद में अर्थज्ञान की निष्पत्ति, ऐसी स्थिति में ज्ञान की निष्पत्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि अर्थज्ञान की निष्पत्ति के पूर्व अर्थज्ञान की उपलब्धि कथमपि सम्भव नहीं है। यदि सिद्धि का तात्पर्य प्रतीति से है तो आपका अभिप्राय होगा, 'उपलब्धि का प्रत्यक्ष हुए बिना अर्थ ज्ञान की प्रतीति नहीं होती

है।' तो यह तो हम नैयायिकों को भी स्वीकार्य है। जब अर्थज्ञान का प्रत्यक्ष होगा तभी अर्थज्ञान की प्रतीति होगी, यह कहने में कोई नयी बात नहीं है। (द्र. **आत्मतत्त्वविवेक** पृ. 301-302, आचार्य केदारनाथ त्रिपाठी कृत हिन्दी अनुवाद सहित) यद्यपि बौद्धों का और अद्वैतियों का पक्ष वह नहीं है जो उदयनाचार्य अनूदित करते हैं किन्तु यह अवश्य ध्येय है कि बौद्धों की जो पूर्व धारणा है वह यह है कि ज्ञान भी ज्ञाता को ज्ञात होना आवश्यक है। नैयायिक उसे ही नहीं स्वीकारते हैं। आलोचना में और पक्षों एवं युक्तियों को लेखक ने बखूबी उभारा है, इसके लिए निःसंदेह वह वधाई का पात्र है।

ग्रन्थ के तीसरे अध्याय में लेखक ने स्वप्रकाशता सम्बन्धी बौद्ध पक्ष को प्रस्तुत किया है। विज्ञानवादी बौद्धों के लिए ज्ञान को स्वविषयक अर्थात् स्वयंप्रकाश स्वीकारना उनके बाह्यार्थ मिथ्यात्व सिद्धान्त की रक्षा के लिए अनिवार्य है। क्योंकि जब ज्ञान से अतिरिक्त बाह्यार्थ है ही नहीं तो ज्ञान खुद ज्ञान को विषय बना रहा है, यही तार्किक निष्कर्ष के रूप में सामने आता है। इस विषय में बौद्धों की जो युक्तियाँ रही हैं लेखक ने उन्हें ईमानदारी के साथ प्रस्तुत किया है।

चतुर्थ और पंचम अध्यायों में क्रमशः भाट्टमत में ज्ञान के स्वरूप और आत्मा के बारे में तथा ज्ञाततालिङ्गानुमेयवाद के बारे में विवेचन किया है तथा युक्तिसङ्गत रीति से इस मत को उठाया है। इस मत को उठाने के बाद नैयायिकों की ओर से उठायी जाने वाली आपत्तियों और उनके समाधान को भी प्रमुखता से लेखक ने उपस्थापित किया है। इस प्रसंग में लेखक के उपस्थापन से कुछ स्थलों पर मैं अपना विरोध दर्ज कराना चाहूँगा। वह यह कि लेखक ने एक स्थल पर कहा है कि ''पुनः ज्ञान को द्रव्य, गुण या सम्बन्ध के बजाय आत्मा की क्रिया मानने से मीमांसक कई अन्य समस्याओं को भी सुलझा देते हैं।'' (पृ. 70) पुनः 'ज्ञान यदि क्रिया है तो उसे गुण नहीं कहा जाना चाहिए।' (पृ. 74) धात्वर्थ मात्र को यदि क्रिया मान लिया गया है तो गुण भी धात्वर्थ हो सकता है, इसलिए एक ही चीज़ गुण भी हो सकती है और क्रिया भी। इस कारण ज्ञान को गुण स्वीकारने के साथ-साथ उसे क्रिया भी माना जा सकता है। नैयायिक भी शाब्दबोध-विवेचन में धात्वर्थ को क्रिया मानकर ही विचार करते हैं। इसी रीति से लेखक न्यायमत से कुमारिल मत को पृथक् करते हुए कहता है कि, ''ज्ञान, मीमांसामत में, जहाँ आत्मा का धर्म है वहाँ न्यायवैशेषिक परम्परा में वह आत्मा का गुण है।'' (पृ. 74) वस्तुतः न्यायवैशेषिक परम्परा में गुण होने के कारण किसी का धर्मत्व खण्डित नहीं होता है। गुण, कर्म, सामान्य आदि, यहाँ तक कि द्रव्य भी, धर्म हो सकता है क्योंकि धर्म की परिभाषा ही कही जाती है ''वृत्तिमत्वं धर्मत्वम्,'' जो कहीं पर रहता है वह उसका धर्म है। इसलिए इस आधार पर इन दोनों मतों में कोई अन्तर नहीं किया जाना चाहिए।

छठे और सातवें अध्याय में लेखक ने गवेषक और विचारक की दृष्टि से प्राभाकर मत को व्यवस्थित तरीके से उसकी आलोचनाओं, उसकी कमियों और उसके औचित्य के साथ उपस्थापित किया है। इन अध्यायों में लेखक द्वारा प्राचीन गुरुमत को नवीन गुरुमत से अलग

बताते हुए दोनों मतों के औचित्य पर भी चर्चा की गई है। इसे इस ग्रन्थ की विशिष्ट विशेषता मानना चाहिए।

इस रीति से सात अध्यायों में एक तरह से पूर्वपक्ष को रखने के बाद लेखक द्वारा अष्टम अध्याय में ज्ञान की प्रकाशता सम्बन्धी उपर्युक्त मतों की अद्वैतियों द्वारा की गयी आलोचनाओं को उठाया गया है। चूँकि तत्तत् मतों के उपस्थापन के अवसर पर भी उन मतों की आलोचनाओं को स्थान दिया गया है इसलिए अनेक युक्तियों का पुनरावर्तन न चाहते हुए भी हो गया है। नवम अध्याय अद्वैत वेदान्त में ज्ञानादि ग्रहण की समस्या पर केन्द्रित है और इस समस्या को सुलझाने में लेखक ने विशेष प्रयत्न किया है। अन्त में लेखक सुख, दुःखादिके भान के लिए **वेदान्तपरिभाषा**कार के मत को अस्वीकार्य बताता है। **वेदान्तपरिभाषा**कार धर्मराजाध्वरीन्द्र ज्ञान, सुख, दुःखादि को केवल साक्षिवेद्य नहीं स्वीकारते हैं, अपितु उनके अनुसार, वृत्ति रूप ज्ञान, सुख, दुःखादि खुद अपने आपको भी विषय बनाते हैं। इसे लेखक ने सम्प्रदाय-विरुद्ध मानते हुए अस्वीकृत कर दिया है। किन्तु वृत्ति रूप ज्ञान, सुख, दुःखादि को साक्षी के द्वारा किसी अतिरिक्त वृत्ति के रूप में ही भास्य होना चाहिए, ऐसा व्यवस्थापित किया है। अद्वैत सम्प्रदाय में सुख, दुःखादि भी अन्तःकरण की वृत्तियाँ ही हैं। लेखक द्वारा **वेदान्तपरिभाषा** के मत पर उठायी गयी आपत्तियों से असहमत होना कठिन है किन्तु लेखक को अपने निष्कर्ष पर पुनर्विचार करने की ज़रूरत है। **अद्वैतसिद्धि** में मधुसूदन सरस्वती ने दृश्यत्व हेतु का निर्वचन करते हुए 'वस्तुतस्तु शब्दाजन्यवृत्तिविषयत्वमेव दृश्यत्वम्' (पृ. 57 **न्यायामृताद्वैतसिद्धी**, योगीन्द्रानन्दकृत हिन्दी व्याख्या सहित) ऐसा कहा है। दृश्यत्व हेतु से अद्वैत वेदान्ती ब्रह्मातिरिक्त सत्तया प्रतीयमान जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध करते हैं। ऐसी परिस्थिति में यदि लेखक के कथनानुसार वृत्तियों में वृत्ति विषयत्व नहीं स्वीकारा जाये, उनको सीधे-सीधे साक्षी द्वारा भास्य माना जाये, तो दुःख, सुख, ज्ञानादि रूप वृत्तियों में शब्दाजन्यवृत्तिविषयत्व नहीं रहने के कारण उक्त हेतु स्वरूपसिद्ध हो जायेगा तथा प्रपञ्चमिथ्यात्वानुमान असम्भव हो जायेगा। दशम अध्याय में ज्ञान की स्वप्रकाशता और स्वयंप्रकाश आत्मतत्त्व का और ग्यारहवें अध्याय में अद्वैत सम्मत पारिभाषिक संवित्स्वप्रकाशता का उपपादन है। 'अवेद्यत्वे सति अपरोक्षव्यवहार- योग्यत्व' रूप पारिभाषिक स्वप्रकाशत्व को स्वीकार कर अद्वैती 'ज्ञान का ज्ञान कैसे होता है?' इस प्रश्न को नकार देते हैं। इन दो अध्यायों में लेखक ने उपनिषदों, गीता, ब्रह्मसूत्र इत्यादि मूल ग्रन्थों, शङ्कराचार्य के भाष्यों तथा अन्य आचार्यों के ग्रन्थों के उद्धरणों के साथ उपर्युक्त स्वयंप्रकाशत्व में युक्तियों, प्रमाणों और तर्कों को उपस्थापित करते हुए अद्वैत पक्ष को बखूबी प्रस्तुत किया है। इस प्रकार के स्वप्रकाशत्व को स्वीकारते हुए अद्वैती जगदान्ध्यप्रसंग, कर्त्तृकर्मभावविरोध इत्यादि दूषणों से भलीभाँति बच जाते हैं। लेखक ने ग्रन्थ के अन्त में परिशिष्ट के रूप में चित्सुखाचार्य कृत स्वप्रकाशत्व-निरूपण को पूर्वपक्ष और उत्तर पक्षों के साथ प्रस्तुत किया है। किन्तु इस निरूपण में लेखक ने सजग आलोचक की दृष्टि का उपयोग नहीं किया है। लेखक की भूमिका एक व्याख्याता की ही

रही है। यदि लेखक ने **चित्सुखी (तत्त्वप्रदीपिका)** की आलोचनाओं पर भी ध्यान दिया होता तो शायद यह परिशिष्ट और ज़्यादा उपयोगी होता। ध्यातव्य है कि **न्यायामृत** के लेखक व्यासतीर्थ ने और वेंकटनाथ ने इसका प्रायशः खण्डन किया है। चित्सुखाचार्य के अनेक पक्ष अत्यन्त विवादित रहे हैं। उदाहरण के लिए महाविद्यानुमान को लें। इसे कथमपि सदनुमान नहीं माना जा सकता। किन्तु चित्सुखाचार्य और प्रत्यग्भगवान् (**तत्त्वप्रदीपिका** की **नयनप्रसादिनी** टीका के लेखक) महाविद्यानुमानों का धड़ल्ले से प्रयोग करते हैं। इन्हें असदनुमान मानने का कारण यह है कि इनमें तनिक सा परिवर्तन करके विपक्षी भी इनका प्रयोग कर सकता है। बानगी के तौर पर लें तो चित्सुखाचार्य द्वारा प्रयुक्त 'अयं घटः एतद्घटान्यत्वे सति वेद्यत्वानधिकरणान्यः पदार्थात्वात् पटवत्' (प्रस्तुत पुस्तक में ही पृ. 203 पर उद्धृत) 'यह घट एतद्घटान्य में रहने वाले वेद्यत्व के अनधिकरण से अन्य है–पदार्थ होने से कारण पट के समान।' अनुमान के खण्डन हेतु व्यासतीर्थ **'न्यायामृत'** में सत्प्रतिपक्षानुमान प्रस्तुत करते हैं–'अयं घटः एतद्घटत्वे सति वेद्यत्वानधिकरणान्यत्वानधिकरणम् पदार्थत्वात्' (न्यायामृताद्वैतसिद्धी पृ. 974) 'यह घट एतद् घटत्व समानाधिकरण वेद्यत्व के अनधिकरणान्यत्व का अनधिकरण है, पदार्थ होने के कारण।' वस्तुतः महाविद्यानुमान के द्वारा किञ्चिद्व्यत्यास से कुछ भी सिद्ध किया जा सकता है। इसी कारण इसे व्याप्यत्वासिद्ध या अप्रयोजक हेतु माना जाता है। सम्भवतः इसीलिए गङ्गेश से लेकर मथुरानाथ, जगदीश, गदाधर पर्यन्त किसी भी नैयायिक ने महाविद्यानुमान का उल्लेख भी नहीं किया है। इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी न्यूनता यह है कि इसमें अद्वैतियों के स्वप्रकाशतासिद्धान्त की विध्वंसात्मक और आनुपूर्वीशः आलोचना जिन्होंने की है, उन माध्वों और विशिष्टाद्वैतियों के मतों की एकदम से उपेक्षा कर दी गयी है।

इस प्रकार की कुछ स्थलों पर गम्भीर त्रुटियों और न्यूनताओं के बावजूद लेखक ने यह एक ऐसे विषय पर शोधपूर्ण प्रबन्ध राष्ट्रभाषा में प्रस्तुत किया है जिसके बारे में शायद हिन्दी में न के बराबर लिखा गया है और मूल संस्कृत ग्रन्थों में भी संक्षिप्त चर्चा ही विभिन्न स्थलों पर उपलब्ध होती है। इसलिए निश्चय ही यह पुस्तक शोधार्थियों के लिए उपयोगी होगी। इसके लिए लेखक वधाई का अधिकारी है।

सच्चिदानंद मिश्र
न्याय विभाग,
श्री सदाशिव केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ,
पुरी (उड़ीसा)